I.S.S.N. - 0971 - 9024 R.N.I. No. 50199/88

अर्हत् वचन
ARHAT VACANA

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ (देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर द्वारा मान्यता प्राप्त शोध संस्थान), इन्दौर द्वारा प्रकाशित शोध त्रैमासिकी

Quarterly Research Journal of Kundakunda Jñānapīṭha, INDORE

(Recognised by Devi Ahilya University, Indore)

वर्ष 24, अंक 01 **जनवरी-मार्च 2012**

Volume 24, Issue 01 **January-March 2012**

मानद – सम्पादक

डॉ. अनुपम जैन

प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष-गणित,
शासकीय होलकर (स्वशासी) विज्ञान महाविद्यालय,
इन्दौर – 452 001 भारत
☎ 0731 – 2797790, 2545421

HONY. EDITOR

Dr. Anupam Jain

Professor & Head-Department of Mathematics,
Govt. Holkar (Autonomous) Science College,
INDORE - 452 001 INDIA
email : anupamjain3@rediffmail.com

❖ ❖ ❖

प्रकाशक

डॉ. अजितकुमारसिंह कासलीवाल
अध्यक्ष
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ
584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज,
इन्दौर 452 001 (म.प्र)

PUBLISHER

Dr. Ajitkumarsingh Kasliwal
President
KundaKunda Jñānapīṭha
584, M.G. Road, Tukoganj,
INDORE - 452 001 (M.P.) INDIA

☎ (0731) 2545744, (O) 2434718, 09302104700

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर की ओर से अध्यक्ष- डॉ. अजितकुमारसिंह कासलीवाल द्वारा 584, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर से प्रकाशित एवं **सुगन ग्राफिक्स**, LG - 11, ट्रेड सेन्टर, साऊथ तुकोगंज, इन्दौर से मुद्रित फोन : 4065518 **सम्पादक : डॉ. अनुपम जैन, इन्दौर**

भारत के प्रधानमंत्री द्वारा घोषित - राष्ट्रीय गणित वर्ष 2012

अर्हत् वचन सम्पादक मंडल, 2012 एवं 2013

अध्यक्ष

प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन, फिरोजाबाद

परामर्शमण्डल

डॉ. ए.के. बाग, दिल्ली
डॉ. डी.सी. जैन, दिल्ली
प्रो. गोकुलचन्द जैन, इन्दौर
प्रो. लक्ष्मीचन्द जैन, जबलपुर
डॉ. पीटर फ्लूगेल, ब्रिटेन
डॉ. राजमल जैन, अहमदाबाद
प्रो. एस.एल. गर्ग, इन्दौर
प्रो. राधाचरण गुप्त, झांसी
प्रो. तकाओ हायाशी, जापान

सम्पादक मण्डल

ब्र. अनिल जैन शास्त्री, इन्दौर
प्रो. जे.एस. कुशवाह, इन्दौर
प्रो. जगदीशचन्द उपाध्याय, इन्दौर
श्री जयसेन जैन, इन्दौर
डॉ. प्रगति जैन, इन्दौर
प्रो. रजनीश जैन, इन्दौर
डॉ. संगीता विनायका, इन्दौर
प्रो. श्रेणिक बंडी, इन्दौर
श्री सूरजमल बोबरा, इन्दौर

सहसम्पादक

श्री अरविन्द कुमार जैन, इन्दौर
डॉ. सुरेखा मिश्रा, इन्दौर

- सम्पादकीय पत्राचार का पता (Address for editorial correspondence)-

डॉ. अनुपम जैन
'ज्ञान छाया' डी – 14, सुदामा नगर,
इन्दौर – 452 009
फोन : 0731 – 2797790

Dr. Anupam Jain
'Gyan Chhaya' D - 14, Sudama Nagar,
Indore - 452 009
Ph. : 0731 - 2797790

email : anupamjain3@rediffmail.com, 094250-53822

1 जनवरी 2012 से सदस्यता की दरें निम्नवत् रहेगी

वर्ष	भारत	विदेश
1 वर्ष	200.00	20 U.S. $
3 वर्ष	500.00	50 U.S. $
10 वर्ष	1500.00	150 U.S. $
आजीवन	2100.00	200 U.S. $

ईसवी नववर्ष 2012

सभी पाठकों / लेखकों / शुभचिन्तकों को मंगलमय हो....

डॉ. अजितकुमार सिंह कासलीवाल
प्रकाशक

डॉ. अनुपम जैन
सम्पादक

लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों के लिये वे स्वयं उत्तरदायी हैं। सम्पादक अथवा सम्पादक मण्डल का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं हैं। इस पत्रिका से कोई भी आलेख पुनर्मुद्रित करते समय पत्रिका के सम्बद्ध अंक का उल्लेख अवश्य करें। साथ ही सम्बद्ध अंक की एक प्रति भी हमें प्रेषित करें। समस्त विवादों का निपटारा इन्दौर न्यायालयीन क्षेत्र में ही होगा।

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

सामयिक संदर्भ

ईसवी नववर्ष की शुभ बेला में अर्हत् वचन के 24वें वर्ष का प्रथम अंक पाठकों को समर्पित है। किसी पत्रिका का सतत प्रकाशन के 24वें वर्ष में प्रवेश स्वयं में गौरवपूर्ण है और हम यह क्षण अपने सुधी पाठकों को एवं प्रबुद्ध लेखकों को समर्पित करते हैं। जैन परम्परा में 24 के अंक की महत्ता सर्व विदित है फलतः यह सब के लिए विशेष खुशी का अवसर है। यह वर्ष कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ की स्थापना का रजत जयन्ती वर्ष भी है। अर्हत् वचन की विकास यात्रा में हमने अनेक पड़ाव देखें हैं। कभी व्यवधान भी आयें किन्तु उन सब पर आपकी शुभकामनाओं से विजय पायी। अब पत्रिका के स्वरूप में गुणात्मक अभिवृद्धि करने के भाव से हम अपने माननीय लेखकों एवं पाठकों से कुछ सहयोग का अनुरोध कर रहे हैं, जो निम्नवत् है।

लेखकों से -

1. *1 जनवरी 2012 के बाद हम प्रकाशनार्थ केवल वे ही लेख स्वीकार करेंगे जो पूर्व में अप्रकाशित होने के प्रमाण पत्र एवं इस अंक के पृष्ठ 82 पर मुद्रित General Instructions and Information for Contributors अथवा लेखकों हेतु अनुदेश पृ. 24 के अनुरूप होंगे अन्यथा हम उनका पंजीयन ही नहीं कर सकेंगे अर्थात् ऐसे लेख जो Hard Copy एवं Soft Copy के साथ में सारांश एवं पूर्ण सन्दर्भों सहित नहीं होंगे अथवा जिनमें समीचीन संदर्भ स्थल या पूर्ण संदर्भ आदि नहीं होंगे उन्हें हम प्रकाशनार्थ स्वीकार नहीं कर सकेंगे। हाथ से लिखकर भेजे गये लेख स्वीकार्य नहीं होंगे।*
2. *लेख की प्राप्ति के तत्काल बाद हम प्राप्ति से अवगत करा देते हैं किन्तु समीक्षकों से संस्तुति प्राप्त होने में अनेकशः 3-6 माह का समय लग जाता है। आशा है लेखकगण सहयोग करेंगे।*
3. *अर्हत् वचन की विषय परिधि बहुत सीमित है। कृपया इसका ध्यान रखकर ही लेख भेजें तो अच्छा रहेगा। प्रो. गोकुल चन्द्र जैन के प्रति सम्मान स्वरूप हमने इस अंक में न्याय विषयक लेख प्रकाशित किया है। उनका लेख **'भारतीय प्रमाण शास्त्र के इतिहास में प्रत्यक्ष प्रमाण'** ज्ञानपीठ के प्रति उनके स्नेह एवं अनुराग का प्रतीक है जो हमें अर्हत् वचन में प्रकाशन हेतु प्राप्त हुआ है। जनवरी 2012 से Reprint देने की व्यवस्था समाप्त की जा रही है। क्योंकि हम सी.डी. में सम्पूर्ण अंक उपलब्ध करा रहे हैं। www.jainaeducation.com पर अर्हत् वचन के अनेक अंक उपलब्ध हैं अतः लेखक वहाँ से भी प्रिंट निकाल सकते हैं। वर्ष 2010 एवं 2011 के पूर्व के अंकों को भी website पर उपलब्ध कराने की हम व्यवस्था कर रहे हैं। पाठक गण इन्हें वहाँ से भी प्राप्त करने की व्यवस्था कर सकते हैं।*

पाठकों से -

1. *प्रकाशन के प्रारंभ से ही हम अनेक विद्वानों, चिन्तकों, सहयोगियों को अर्हत् वचन की निःशुल्क प्रतियां भेजते रहे हैं। मूल्य भी लागत से हमने बहुत कम रखा है। सभी निःशुल्क प्राप्त करने वाले महानुभावों से निवेदन है कि वे अब स्वयं सदस्यता ग्रहण करें अथवा अपने संस्थान को सदस्यता दिलायें। डाक की बढ़ती दरों के कारण हमें पत्रिका निःशुल्क भेजना कठिन होता जा रहा है। 1 जनवरी 2012 से सदस्यता की दरें पृ. 2 पर प्रकाशित विवरणानुसार रहेगी।*

2. रजत जयन्ती वर्ष में पाठकों के लाभ हेतु अर्हत् वचन के पुराने अंक उपलब्धता के आधार पर रुपये 50.00 प्रति अंक की दर से उपलब्ध कराये जा रहे हैं। सजिल्द फाइलें 250.00 रुपये प्रतिवर्ष (वाल्यूम) की दर से उपलब्ध हैं। आशा है कि हमारे प्रबुद्ध पाठक एवं शोध संस्थानों के निदेशक, पुस्तकालयों के प्रबंधक इस योजना का लाभ लेंगे।

जम्बूद्वीप के विकास के मसीहा थे क्षु. मोतीसागर

पूज्य पीठाधीश क्षु. मोतीसागर जी के समाधिमरण (हस्तिनापुर 10.11.11) से पूज्य क्षुल्लक जी की चिरसंचित अभिलाषा की पूर्ति जरूर हो गई किन्तु दि. जैन समाज ने एक समर्पित तीर्थभक्त एवं निस्पृही संत खो दिया। अष्टान्हिका पर्व, शिक्षा गुरु गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का ससंघ सान्निध्य, जम्बूद्वीप हस्तिनापुर की पुण्य भूमि, सिद्धचक्र विधान की समापन बेला, सबकुछ समाधि की दृष्टि से अनुकूलता थी। सतत सावधानी, लगोटी एवं चादर के परिग्रह त्याग की सांकेतिक भावना, आत्मा एवं शरीर की भिन्नता के प्रति सजगता बरतते हुए 10 नवम्बर को मध्यान्ह 1.05 पर आपने इस नश्वर शरीर का जम्बूद्वीप हस्तिनापुर में त्याग कर दिया। जम्बूद्वीप हेतु भूमि क्रय से लेकर अब तक की विकास यात्रा के वे पथिक है। गणिनी ज्ञानमती माताजी के स्वप्न को साकार करने में जिन त्रिरत्नों -

1. ब्र. मोतीचन्द जैन सर्राफ (पीठाधीश क्षु. मोतीसागरजी)
2. कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्रकुमार जैन (स्वस्तिश्री पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति जी महाराज)
3. ब्र. (कु.) माधुरी शास्त्री (प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी)

का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा। उनमें पीठाधीश क्षु. मोतीसागर जी का नाम सर्वोपरि है। उनकी समाधि के उपरान्त गणिनी ज्ञानमती शोधपीठ, जम्बूद्वीप, हस्तिनापुर में आयोजित श्रद्धांजलि सभा में ऐलाचार्य वसुनन्दि जी (ससंघ), गणिनी प्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (ससंघ), आर्यिका श्री अभयमती माताजी (ससंघ), कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्र कुमारजी (वर्तमान स्वस्तिश्री पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी) ज्योतिषाचार्य पं. धनराजजी (अमीनगर सराय) प्राचीन दि. जैन बड़ा मन्दिर हस्तिनापुर के पदाधिकारी, जम्बूद्वीप संस्थान के पदाधिकारी-कर्मचारी, दिल्ली, बम्बई, धूलियान, औरंगाबाद, पैठण, पटना, सनावद, भोपाल, इन्दौर, लखनऊ, अवधप्रान्त, प्रयाग, कुण्डलपुर, मांगीतुंगी के भक्तगण उपस्थित रहे।

जम्बूद्वीप के कण-कण में उनका स्पन्दन है। जीवन के अंतिम वर्षों में वे क्षुल्लक की चर्या के निर्वाह के साथ ही छोटी से छोटी चीज पर भी नजर रखते थे।

जम्बूद्वीप परिसर में अनेक मंदिरों के निर्माण के प्रति उनकी अभिरुचि तो जग जाहिर है। किन्तु पाठकों को यह जानकर खुशी होगी कि वे पुस्तकों / पत्रिकाओं को बहुत रुचिपूर्वक पढ़ते थे। मैं जब भी हस्तिनापुर जाता तो वे पूछते मेरे लिए क्या लाये हो ? और जब मैं उन्हें कोई नई पुस्तक या पत्रिका देता तो बहुत खुश होकर आशीर्वाद देते थे। जम्बूद्वीप पुस्तकालय के विकास में उनकी इस साहित्यिक अभिरुचि का बड़ा योगदान है।

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ इन्दौर एवं अन्य अनेक संस्थाओं के प्रतिनिधि के रूप में मुझे भी उनके अंतिम दर्शन एवं श्रद्धांजलि समर्पण का अवसर प्राप्त हुआ। ऐसे अनन्य गुरु भक्त, तीर्थ भक्त, विकास पुरुष एवं सजग संत के चरणों में शत्-शत् नमन।

वर्ष 2012 से हमने अर्हत् वचन के सम्पादक मण्डल के स्वरूप में भी परिवर्तन किया है। इससे हम अधिक विद्वानों का मार्गदर्शन पा सकेगें। हमारे सभी ट्रस्टियों का तो सतत् सहयोग हमें मिलता ही है। 2010 एवं 2011 की अवधि में सम्पादक मण्डल के सदस्य रहे सभी साथियों के प्रति सादर आभार एवं आगामी वर्षों में भी सहयोग के अनुरोध सहित।

– डॉ. अनुपम जैन

वर्ष - 24, अंक - 1, जनवरी - मार्च - 2012, 5-7

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जिन पूजा एवं गंधोदक

■ आचार्य विद्यानन्द मुनि *

सारांश

जैन समाज में पूजा पद्धति के बारे में वर्तमान समय में चल रही निरर्थक भ्रांतियों के बारे में आगमोक्त स्पष्टीकरण एवं मार्गदर्शन प्रस्तुत आलेख में प्रदान किया गया है।

सम्पादक

पैरों पर चंदनादि के टीके लगाते हैं तो आप उसका निषेध क्यों करते हो ?[1]

शब्द की व्युत्पत्ति और परम्परा का ज्ञान

आपने चरणों में चंदन लगाने का निषेध किया जबकि जयधवलाकार ने चंदन लगाना कथंचित् स्वीकार किया है। यथा - '**छुहावण**'[2]

अर्थ– चन्दन लगाना।

छुहावण शब्द संस्कृत शब्द से तद्भव हुआ। 'शुभावन' से 'छुहावण' बना है। शुभा यानि सुगन्धित वृक्ष, अवन यानि नीचे लगाना अर्थात् सुगन्धित चन्दन को भगवान के चरणों में लगाना और वही अभिषेक के बाद वह धुल जाता है जो गन्धोदक कहलाता है।

शब्दों की व्युत्पत्ति और परम्परा से आये आचार्यों के ग्रन्थ जब तक हम नहीं पढ़ेंगे तब तक कोई भी बात स्पष्ट नहीं होगी। जैसे 'पूजा' शब्द मूल में 'पूजे' शब्द था जो कि देशी (द्रविड़) शब्द है। पूया शब्द महाराष्ट्री प्राकृत शब्द है। पू का अर्थ फूल और 'जे' का अर्थ चढ़ाना। सामान्यत: पहले फूल चढ़ाने की पद्धति थी। कुन्दकुन्दाचार्य ने भी 'पूज्रेमि' शब्द का प्रयोग किया है। संस्कृत में 'पूजा' शब्द है जो कि अष्टद्रव्यादि से अर्चना के भाव दर्शाता है।

'चरू–बलि–पुप्फ–गंध–धूव–दीवादीहिं सगभत्तिपगासो अचण णाम।'[3]

अर्थ– चरू बलि[4], अर्चना, पुष्प, फल, गंध, धूप और दीप (जल, अक्षत) आदिको से अपनी भक्ति प्रकाशित करने का नाम अर्चना है।

'पूजन' का प्राकृत में **'पूयण'** शब्द बनता है। इसका अर्थ इस प्रकार है–

'गन्धमाल्याऽऽदिभिरभ्यर्चने।'[5]

गंध शब्द का अर्थ चन्दन है और उससे मिश्रित जल गंधोदक कहलाता है। यथा–

'गन्धप्रधाने श्रीखण्डादौ।'

'श्री खण्डादिरसमिश्रे जले।'[6]

शास्त्रों में जिनेन्द्र भगवान् के चरणों का गंधोदक लगाने का बहुत महत्व है। पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री ने भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित ज्ञानपीठ पूजांजलि का सम्पादन करते हुए लघु अभिषेक पाठ में लिखा है–

मुक्ति–श्री–वनिता–करोदकमिंद पुणङ्कुरोत्पादकं,
नागेन्द्र–त्रिदशेन्द्र–चक्र–पदवी–राज्याभिषेकोदकम्।
सम्यग्ज्ञान–चरित्र–दर्शनलता–संवृद्धि–संपादकं,
कीर्ति–श्री–जय–साधकं तव जिन स्नानस्य गन्धोदक् ॥20॥[7]

''**अर्थ**– हे जिन! आपके स्नपन का गन्धोदक **मुक्तिलक्ष्मीरूपी वनिता** के कर के उदक के

* दिगम्बर जैन मुनि परम्परा में दीक्षित, सर्वाधिक वरिष्ट आचार्य, राष्ट्रसंत, सम्पर्क : कुन्दकुन्द भारती 18-बी, स्पेशल इंस्टीट्यूशनल एरिया, महरौली रोड़, नई दिल्ली-110067

समान है, पुण्यरूपी अंकुर को उत्पन्न करानेवाला है, नागेन्द्र, देवेन्द्र और चक्रवर्ती के राज्य के अभिषेक के जल के समान है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र रूपी लता की वृद्धि का सम्पादक है तथा कीर्ति, लक्ष्मी और जय का साधक है।

उपर्युक्त श्लोक को पढ़कर गन्धोदक ग्रहण करना चाहिए।

गन्धोदक लगाने का स्थान

'गंधांभः सुमनार्ह दंघ्रियुगसं स्पर्शात्पवित्रीकृतम्।
देवेंद्रादि शिरो–ललाट–नयन न्यासोचितं मंगलम्।।
तेषां स्पर्शनतस्त एवं सकलाः पूता अभोगोचितम्।
भाले नेत्रयुगे च मूर्धनि तथा सर्वेजनैर्धार्यताम्।।'[8]

अर्थ– भगवान् के चरण में चढ़ाये हुए सुगन्धित जल अरिहंत भगवान के पवित्र चरण के स्पर्श होने से पवित्र हो जाते हैं। अतएव देवेन्द्रादि के भी ललाट, मस्तक, नेत्र में धारण करने योग्य है। उनके स्पर्श करने मात्र से ही पूर्व में अनेक जन पवित्र हो चुके हैं। इसलिए उन गंधोदक आदि को भव्य जीव सदा ललाट, नयनद्वय व मस्तक में सदाकाल भक्ति से धारण करे।

जिनेन्द्र भक्ति एवं गंधोदक का महत्व–

'यदीय पादाम्बुजभक्तिशीकरः सुरासुरधीश पदाय जायते।'

अर्थ– जिनेन्द्र भगवान् के चरणों का एक बूंद गंधोदक जो भक्ति से लगाता है, वह इन्द्र–धरणेन्द्र आदि की पदवी को पाता है।

जिनेन्द्र भक्ति एवं गंधोदक लगाने का फल मैना सुन्दरी ने पाया था

'श्री सिद्धचक्र का पाठ, करो दिन आठ, ठाठ से प्राणी।
फल पायो मैना रानी।।'

'जैसे मंत्रनिमित्तकरि जलादिकविषै रोगादिक दूरि करने की शक्ति हो है।'[9]

सुन्दर पुष्प सुगन्धित जल की वर्षा–

''मन्दार–सुन्दर–नमेरू–सुपारिजात,
सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा।
गन्धोद–बिन्दु–शुभ–मन्द–मरुत्–प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा।।''[10]

अर्थ– हे भगवन्! आपके समवशरण में जब देवगण आकाश से मन्दार, सुन्दर नमेरू, पारिजात सन्तानक आदि, दिव्य वृक्षों के सुन्दर पुष्प और सुगंधित जल (गंधोदक) की वर्षा करते हैं, तब मन्द–मन्द पवन के झोकों से हिलोर खाते वे ऐसे भव्य प्रतीत होते हैं, मानो आपके श्रीमुख से वचनरूपी दिव्य पुष्प ही बरस रहे हों। यह पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य का वर्णन है।

आजकल लोग 13 पंथ, 20 पंथ तथा तारण पंथ आदि में ही उलझ गए। जबकि शास्त्रों में पंथों का नहीं परम्परा से आए हुए जिनागम का वर्णन है। शास्त्र प्रारम्भ करने के पहले 'परम्पराचार्यगुरवे नमः' कहते हैं। इसका मतलब यह है जो गुरू परम्परा से ज्ञान आ रहा है वही हमारे लिए आगम चक्षु है। जिसे परम्परा का भी ज्ञान नहीं उसे आचार्यों ने इस प्रकार कहा है–

''स्वजातिपूर्वजानांतु यो न जानाति सम्भवम्।
स भवेत् पुंश्चलीपुत्रसदृशः पित्रवेदकः।।''[11]

अपने पूर्वजों के भाषा और संस्कृति विषय में जो विद्वान् जानकारी नहीं रखता वह उस कुलटा पुत्र के समान है, जिसे पिता के विषय में पता नहीं। अर्थात् अतीत ही वर्तमान का सांस्कृतिक आधार

है। उस अतीत को न जाननेवााला अपनी प्राचीन निधि के परिज्ञान बिना निराधार सदृश है। स्वजाति समुत्पन्न पूर्वज ही वह रत्नकोष हैं, जिन्हें उत्तराधिकार में प्राप्त कर मनुष्य वास्तविक संस्कृति सम्पन्नता का अधिकारी होता है।

गृहस्थों के लिए जिनपूजा प्रधान धर्म है। यद्यपि इसमें जल, गंध, पुष्पादि के माध्यम से पंचपरमेष्ठी की प्रतिमाओं का ही आश्रय लिया जाता है, पर वहां भी भाव ही प्रधान होते है, जिनके कारण पूजक को असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। वास्तव में जल, गंधादि चढ़ाना धर्म नहीं है वरन् चढ़ाते समय जो आनंद आता है वह धर्म है। कहा भी है -

'पुष्पादिः रतवनादिर्वा नैव धर्मस्य साधनम्।
भावों ही धर्महेतुः स्यात्तदत्र प्रयतो भवेत्।।'[12]

अर्थ - केवल जल, गंध, अक्षत, पुष्प, चरु, दीप, धूप और फल तथा जप, स्तवन, भजन, शब्दात्मक गुणकीर्तन आदि आलंबन है, स्वयं धर्म नहीं। वस्तुतः शुद्ध भाव ही धर्म का हेतु है। इसलिए शुद्ध भाव के विषय में ही प्रयत्नवान् होना चाहिये।

'पुष्पादिरशनादिर्वा न स्वयं धर्म एव हि।
क्षित्यादिरिव धान्यस्य किन्तु भावस्य कारणम्।।'[13]

अर्थ - केवल पुष्पादि अष्टद्रव्य चढ़ाना वगैरह क्रियाकाण्ड और आहारादि दान स्वयं धर्म नहीं है किन्तु जैसे खेती (बीज, पानी, खाद व हल) वगैरह धान्य की उत्पत्ति में निमित्त साधन हैं वैसे ही पुष्पादि चढ़ाना ये चीजें शुभोपयोग के प्रबल साधन है।

प्रस्तुत लेख का सारांश यह है कि प्राकृत, अपभ्रंश भाषा के तत्सम, तद्भव, देशी आदि शब्दों का गूढ़ अध्ययन अत्यंत आवश्यक है। शब्द सम्पत्ति के बिना लेखक / लेखिका बनना असम्भव है। यदि किसी शास्त्र को पढ़कर के उसमें अपना अभिप्राय लिखें तो वह आगम के अनुसार होना चाहिए, उसे ही शास्त्रों में भाष्य कहा है। यथा -

'सूत्रार्थौ वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यं भाष्यविदो विदुः।।'

अर्थ - सूत्र (आगम-परमागम) को अनुसरण करने वाले पदों के द्वारा सूत्र का अर्थ बताया जाए तथा अपने पदों का भी व्याख्यान किया जाए, उसे भाष्यवेत्ताओं ने 'भाष्य' रूप से जाना है।

संदर्भ -

1. सर्वज्ञ प्रणीत जैन भूगोल, डॉ. श्रीमती उज्ज्वलता दिनेशचंद्र शहा, पृष्ठ 99
2. जयधवला, भाग 1, 1/82, पृष्ठ 100
3. छक्खंडागम, बंध., 3/42 पृष्ठ 92
4. 'बलिर्मस्तकस्योपरितनभागेनावतरणं क्रियेऽहमिति तस्य योगिनः' परमात्मप्रकाश, ब्रह्मदेव टीका, 2/160
5. अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग 5, पृष्ठ 1073
6. वही, भाग 3, पृष्ठ 797, 799
7. ज्ञानपीठ पूजांजलि भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
8. महार्षिवासुपूज्यकृत, दानशासनम्, 3/84, पृष्ठ 45
9. पं. टोडरमल, मोक्षमार्ग प्रकाशक, 2/42
10. आचार्य मानतुंग, भक्तामर स्तोत्र, 33
11. पं. मदन शर्मा 'सुधाकर', कविरत्नम्
12. प्रबोधसार, 3, पृष्ठ 185
13. सोमदेवसूरि, उपासकाध्ययन, 42/792

प्राप्त : 30 अक्टूबर 2011

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर - शोध समिति (निदेशक मण्डल)

2012 एवं 2013

अध्यक्ष
प्रो. ए.ए. अब्बासी
पूर्व कुलपति एवं मानद निदेशक,
IDA Plot No 80 EB,
स्कीम नं. 94, बॉम्बे हॉस्पिटल के पास, इन्दौर
0731-4041595

सदस्य सचिव
प्रो. अनुपम जैन
प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष-गणित,
शास. होलकर (स्वशासी) विज्ञान महाविद्यालय,
ज्ञानछाया, डी-14, सुदामा नगर, इन्दौर
0731-2797790, 094250-53822

सदस्य

प्रो. बिमलकुमार जैन (पूर्व संकायाध्यक्ष वाणिज्य-डॉ. हरिसिंह गौर वि.वि.)
एल.आई.जी-52, पद्माकर नगर, मकरोनिया-**सागर**
प्रो. गणेश कावड़िया (अध्यक्ष - अर्थशास्त्र विभाग, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय)
ए-3, प्राध्यापक निवास, देवी अहिल्या वि.वि., खंडवा रोड़, **इन्दौर**
डॉ. एन.पी. जैन, पूर्वराजदूत
ई-50, गुलमोहर एक्सटेंशन, साकेत, इन्दौर
प्रो. नरेन्द्र धाकड़ (अतिरिक्त संचालक-उच्च शिक्षा, इन्दौर-उज्जैन संभाग)
296, तिलक नगर, **इन्दौर**
प्रो. पारसमल अग्रवाल (पूर्व प्राध्यापक - भौतिकी)
11, भैरवधाम कॉलोनी, सेक्टर-3, हिरणमगरी, **उदयपुर, (राज.)**
प्रो. प्रभुनारायण मिश्र (प्राध्यापक प्रबन्ध विज्ञान एवं पूर्व निदेशक)
पी-2, प्राध्यापक निवास, खंडवा रोड़, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, **इन्दौर**
डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन (सेवानिवृत्त व्याख्याता–हिन्दी)
91/1, गली नं. 3, तिलक नगर, **इन्दौर**
प्रो. सुरेशचन्द्र अग्रवाल (निदेशक-शुद्ध एवं प्रयुक्त विज्ञान संस्थान, शोभित वि.वि., मेरठ)
एफ-4, तरुकुंज, तेजगढ़ी, गढ़ रोड़, **मेरठ (उ.प्र.)**

महावीर ट्रस्ट-म.प्र. का मुखपत्र

सन्मति वाणी

सम्पादक : श्री जयसेन जैन
परामर्श सम्पादक : डॉ. प्रकाशचन्द जैन एवं
डॉ. अनुपम जैन
सह सम्पादक : डॉ. सुशीला सालगिया
आजीवन शुल्क : रु. 1000=00
प्रकाशक : श्री प्रदीपकुमारसिंह कासलीवाल, अध्यक्ष
महावीर ट्रस्ट, 63 महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर-452001

वर्ष - 24, अंक - 1, जनवरी-मार्च - 2012, 9-23

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

भारतीय प्रमाणशास्त्र के इतिहास में प्रत्यक्ष प्रमाण विचार (जैन प्रमाणशास्त्र के विशेष सन्दर्भ में)

■ गोकुलचन्द्र जैन *

सारांश

भारतीय प्रमाणशास्त्र का विकास विभिन्न चिन्तन धाराओं के सैद्धान्तिक समीक्षण प्रति समीक्षण के फलस्वरूप हुआ है। विकास की इस यात्रा में जैन और बौद्ध श्रमण परम्पराओं का महत्त्वपूर्ण अवदान है। जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने अपने-अपने शास्ताओं द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का तार्किक विवेचन करके उन्हें प्रमाणशास्त्रीय प्रतिष्ठा प्रदान की। इसके साथ ही परम्परागत मान्यताओं का, अवधारणाओं का तार्किक पद्धति से समीक्षण करके उन्हें सदोष बताकर संशोधनीय या अस्वीकार्य बताया। इसका सुफल यह हुआ कि सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त आदि सभी दर्शनों में सैद्धान्तिक मान्यताओं की तार्किक दृष्टि से व्याख्यायें की गयीं। जैन दार्शनिकों ने बौद्ध तथा बौद्धदार्शनिकों ने जैन अवधारणाओं की परस्पर भी समीक्षा की। इस तरह भारतीय प्रमाणशास्त्र ने, जिसे बाद में न्यायशास्त्र (लॉजिक) नाम से अभिहित किया गया, नये चिन्तन को गतिमत्ता प्रदान की। प्रकृत में यहाँ विशेष रूप से प्रत्यक्ष प्रमाण पर विचार किया गया है।

- सम्पादक

भारतीय प्रमाण शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं- (1) प्रमाण का स्वरूप, (2) प्रमाण के भेद, (3) प्रमाण का विषय और (4) प्रमाण का फल। जैन दार्शनिकों ने न केवल प्रमाण का स्वरूप निर्धारण करने में प्रत्युत उसके भेद, प्रभेद, विषय और फल के विविचन में भी एक विशेष दृष्टि दी है।

प्रमाण के स्वरूप के विषय में भारतीय प्रमाण शास्त्र में मुख्य रूप से दो दृष्टिया उपलब्ध होती हैं-

1. ज्ञान को प्रमाण मानने वाली।
2. इन्द्रिय आदि को प्रमाण मानने वाली।

जैन और बौद्ध परम्परा में ज्ञान को प्रमाण माना गया है। दोनों में अंतर इतना है कि जैन सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को।

दूसरी परम्परा वैदिक दर्शनों की है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसक सभी किसी न किसी रूप में इन्द्रिय आदि को प्रमाण मानते हैं।

जैन दार्शनिकों ने इन सभी की सदोषता का प्रतिपादन करके सम्यग्ज्ञान को प्रमाण का स्वरूप निश्चित किया है।

* पूर्व प्राध्यापक एवं संकायाध्यक्ष - श्रमण विद्या संकाय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि.वि., वाराणसी, सम्पर्क : ई-1, शालीमार पाम्स, पिपल्याहाना, इन्दौर - 452016

इसी प्रकार प्रमाण के भेदों के विषय में भी जैन दार्शनिकों ने एक विशेष दृष्टि दी है। उन्होंने प्रमाण के मूल रूप में दो भेद बताए हैं - प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम, ये पांच भेद किए हैं। दर्शनान्तरों में स्वीकृत अन्य भेदों को इन्हीं के अंतर्गत समाहित किया गया है।

इस संदर्भ में एक विशेष बात यह है कि सामान्य रूप में दर्शनान्तरों में जिस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है, उसे जैन दार्शनिकों ने परोक्ष कहा है। प्रत्यक्ष की यह चर्चा न केवल भेदों के निर्धारण में, प्रत्युत प्रमाण के स्वरूप-निर्धारण की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इसलिए यहां प्रत्यक्ष के विशेष संदर्भ में भारतीय प्रमाण शास्त्र को जैन दार्शनिकों के अवदान का मूल्यांकन किया गया है।

नैयायिकों का प्रत्यक्ष प्रमाण -

नैयायिक इन्द्रियसन्निकर्ष आदि को प्रमाण मानते हैं। वात्स्यायन ने न्याय भाष्य[1] में प्रत्यक्ष की व्याख्या इस प्रकार की है -- **अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा। यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः। यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोप्रेक्षाबुद्धयः फलम्।**

उद्योतकर ने न्यायवार्तिक[2] में वात्स्यायन के भाष्य का अनुगमन करके सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों को प्रत्यक्ष प्रमाण मानकर इसका प्रबल समर्थन किया है।

न्यायसूत्र की व्याख्या में वाचस्पति का भी यही तात्पर्य है --

इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञामव्यदेशयमव्यमिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।[3]

न्यायभाष्य तथा न्यायमंजरी[4] में इसका विस्तृत विवेचन है।

सन्निकर्षवादी नैयायिकों का कहना है कि अर्थ का ज्ञान कराने में सबसे अधिक साधक सन्निकर्ष है। चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष होने पर ही घट का ज्ञान होता है। जिस अर्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता, उसका ज्ञान भी नहीं होता। यदि इन्द्रियों से असन्निकृष्ट अर्थ का भी ज्ञान माना जाएगा, तो सबको सब पदार्थों का ज्ञान होना चाहिए, किन्तु देखा जाता है कि जो पदार्थ दृष्टि से ओझल होते हैं, उनका ज्ञान नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय कारक है, और कारक दूर रहकर अपना काम नहीं कर सकता। अतएव यह मानना चाहिए कि इन्द्रिय जिस पदार्थ से संबंध नहीं करती, उसे नहीं जानती, क्योंकि वह कारक है, जैसे बढ़ई का वसूला लकड़ी से दूर रह कर अपना काम नहीं करता। जिस प्रकार स्पशनेन्द्रिय पदार्थ को छूकर जानती है, उसी प्रकार अन्य इन्द्रियां भी पदार्थ को संस्पृष्ट होकर जानती हैं।

सन्निकर्ष के भेद

न्यायवार्तिक[5] तथा न्यायमंजरी[6A] में सन्निकर्ष के छह भेद किये गये हैं– 1. संयोग, 2. संयुक्त-समवाय, 3. संयुक्तसमवेतसमवाय, 4. समवाय, 5. समवेतसमवाय, 6. विशेषणविशेष्यभाव।

इनके उदाहरण इस प्रकार हैं :-

1. संयोग सन्निकर्ष - चक्षु का घट आदि पदार्थों के साथ संयोग सन्निकर्ष है।

2. संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष - घट आदि में समवाय सन्निकर्ष से रहने वाले गुण, कर्म आदि पदार्थों के साथ संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष है।

3. संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष - घट आदि में समवाय संबंध से रहने वाले गुण, कर्मादि में समवाय संबंध से रहने वाले गुणत्व, कर्मत्व आदि के साथ संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष है।

4. समवाय सन्निकर्ष - श्रोत्र का शब्द के साथ समवाय सन्निकर्ष है, क्योंकि कान के छिद्र में रहने वाले आकाश का ही नाम श्रोत्र है। शब्द आकाश का गुण है, इसलिए वहां समवाय सन्निकर्ष से रहता है।

5. समवेतसमवाय सन्निकर्ष - शब्दत्व के साथ समवेतसमवाय सन्निकर्ष है।

6. विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्ष - यह घर घटाभाववाला है। इसमें विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष है, क्योंकि घर विशेष्य है और उसका विशेषण घटाभाव है।

प्रत्यक्षज्ञान में सन्निकर्ष की प्रवृत्ति-प्रक्रिया

प्रत्यक्षज्ञान चार, तीन अथवा दो के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। बाह्य रूप आदि का प्रत्यक्ष चार के सन्निकर्ष से होता है। आत्मा मन से संबंध करता है, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय अर्थ से। सुखादि का प्रत्यक्ष तीन के सन्निकर्ष से होता है। इसमें इन्द्रिय काम नहीं करती। योगियों को जो आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। वह केवल आत्मा और मन इन दो के सन्निकर्ष से होता है।[6B]

नैयायिकों के प्रत्यक्ष लक्षण की समीक्षा -

नैयायिकों के इस प्रत्यक्ष लक्षण का निरास जैन तार्किक प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र[7] तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड[8] में विस्तार के साथ किया है। संक्षेप में वह इस प्रकार है–

1. वस्तु का ज्ञान कराने में सन्निकर्ष साधकतम नहीं है, इसलिए वह प्रमाण नहीं है। जिसके होने पर ज्ञान हो तथा नहीं होने पर न हो, वह उसमें साधकतम माना जाता है। सन्निकर्ष में यह बात नहीं है। कहीं कहीं सन्निकर्ष के होने पर भी ज्ञान नहीं होता। जैसे घट की तरह आकाश आदि के साथ भी चक्षु का सन्निकर्ष रहता है, फिर भी आकाश का ज्ञान नहीं होता। अतएव सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है।

2. सभी इन्द्रियां छूकर जानती हों, यह बात नहीं है। चक्षु छूकर नहीं जानती। यदि छूकर जाती, तो आंख में लगे हुए अंजन को देखना चाहिए, किन्तु नहीं देखती। इसी प्रकार यदि छूकर जानती तो ढकी हुई वस्तु को नहीं जानना चाहिए, पर ऐसा नहीं है। कांच आदि पारदर्शी द्रव्य से ढंकी हुई वस्तु को वह जान लेती है। अतएव चक्षु प्राप्यकारी नहीं है। जैन दार्शनिकों ने तात्त्वार्थवार्तिक[9] न्यायकुमुदचन्द्र[10] और प्रमेयकमलमार्तण्ड[11] में चक्षु के प्राप्यकारित्व का विस्तार से खण्डन किया है।

3. सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यदि सर्वज्ञ सन्निकर्ष द्वारा पदार्थों को जानेगा, तो उसका ज्ञान या तो मानसिक होगा या इन्द्रियजन्य। मन और इन्द्रियों की प्रवृत्ति अपने विषयों में क्रमशः होती है तथा उनका विषय भी नियत है, जबकि त्रिकालवर्ती ज्ञेय पदार्थों का अंत नहीं है। सूक्ष्म, अंतरित तथा व्यवहित पदार्थों का इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष नहीं हो सकता, अतः उनका ज्ञान भी नहीं होगा। इस तरह सर्वज्ञ का अभाव हो जाएगा।[12-14]

उपर्युक्त दोषों के कारण इन्द्रियादि के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता।

जरन्नैयायिकों का प्रत्यक्ष - लक्षण - कारकसाकल्य

जरन्नैयायिकों की मान्यता है कि अर्थ का ज्ञान किसी एक कारण से नहीं होता, प्रत्युत कारकों के समूह से होता है। एक दो कारकों के होने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और समग्र कारकों के रहने पर नियम से होता है। इसलिए कारकसाकल्य ही ज्ञान की उत्पत्ति में साधकतम कारण है। अतएव वही प्रमाण है। ज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह तो फल है। फल को प्रमाण मानना उचित

नहीं है, क्योंकि प्रमाण और फल भिन्न-भिन्न होते हैं। न्यायमंजरीकार ने लिखा है - 'अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्रीप्रमाणम्।[15]

समीक्षा -

कारकसाकल्य की उपयोगिता को स्वीकारते हुए भी जैन दार्शनिकों ने विशेष रूप से इसका खण्डन किया है।[16-17] उनका कहना है :-

1. कारकसाकल्य ज्ञन की उत्पत्ति में कारण अवश्य है, पर अर्थोपलब्धि में तो ज्ञान ही कारण है। इसलिए कारकसाकल्य को अर्थोपलब्धि में साधकतम कारण नहीं माना जा सकता।

2. यदि परम्परा कारणों को अर्थोपलब्धि में साधकतम कारण माना जाएगा तो जिस आहार या गाय के दूध से इन्द्रियों को पुष्टि मिलती है, उस आहार तथा दूध देने वाली गाय को भी साधकतम कारण मानना होगा। इस तरह कारणों का कोई प्रतिनियम ही नहीं रह जाएगा।

सांख्य का प्रत्यक्ष - लक्षण - इन्द्रियवृत्ति

सांख्य दर्शन में प्रत्यक्ष लक्षण के मुख्य तीन प्रकार हैं। पहला विंध्यवासी के लक्षण का, जिसे वाचस्पति ने वार्षगण्य के नाम से निर्दिष्ट किया है।[18] दूसरा ईश्वर कृष्ण के लक्षण का[19] तथा तीसरा सांख्यसूत्र[20] के लक्षण का।

हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा[21] में वृद्धसांख्यों का प्रत्यक्ष लक्षण इस प्रकार दिया है -

'श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम्[22] इति वृद्धसांख्याः।

ईश्वरकृष्ण का लक्षण इस प्रकार है -

'प्रतिविषियाध्यवसायो दृष्टम्।[23]

माठरवृत्ति[24] तथा योगदर्शन व्यासभाष्य[25] में इस प्रत्यक्ष का विस्तार से विवेचन किया गया है।

सांख्यों की मान्यता है कि अर्थ की प्रमिति में इन्द्रियाधीन अन्तः करणवृत्ति ही साधकतम है, अतः उसी को प्रमाण मानना चाहिए। वह जब विषय के आकार रूप में परिणमन करती है, तभी अपने प्रतिनियत शब्द आदि का ज्ञान कराती है। इस प्रकार पदार्थ का सम्पर्क होने से पहले इन्द्रियों के द्वारा अन्तःकरण का विषयाकार होने से वृत्ति ही प्रमाण है। योगदर्शन व्यासभाष्य में लियाा है --

'स इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तूपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधानावृत्तिः प्रत्यक्षम्[26]।

उक्त वृत्ति की प्रक्रिया के विषय में सांख्यप्रवचनभाष्यकार ने लिखा है -

अत्रेयं प्रक्रिया- इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्मिकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेः अर्थाकारा वृत्तिः जायते।[27]

सांख्या के प्रत्यक्ष प्रमाण की समीक्षा -

बौद्ध, जैन तथा नैयायिक तार्किकों ने सांख्यों के प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन किया है। बौद्ध तार्किक दिङ्नाग ने प्रमाण समुचय[28] में, नैयायिक उद्योतकर ने न्याय- वार्तिक[29] में जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी[30] में तथा जैन तार्किक अकलंक ने न्यायविनिश्चय[31] में विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक[32] में, प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र[33] और प्रमेयकमलमार्तण्ड[34] में, देवसूरि ने स्याद्वाद-रत्नाकर[35] में तथा हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा[36] में इन्द्रियवृत्ति का विस्तार से निरास किया है। जिसका संक्षिप्त सार यह है–

1. अन्तः करणवृत्ति अचेतन है, इसलिए वह पदार्थ को जानने में साधकतम नहीं हो सकती।

2. अन्तः करण का पदार्थ के आकार होना प्रतिति विरुद्ध है । जैसे दर्पण पदार्थ के आकार को अपने में धारण करता है, वैसे अंतः करण पदार्थ के आकार को अपने में धारण करता नहीं देखा जाता ।

3. अन्तः करण वृत्ति यदि अन्तः करण से भिन्न है तो उसका इन्द्रियों से संबंध नहीं बनता और यदि अभिन्न है तो सुप्तावस्था में भी इन्द्रिय एवं अन्तः करण व्यापार जारी रहना चाहिए ।

इन कारणों से अन्तः करण वृत्ति प्रमाण नहीं है ।

मीमांसकों का प्रत्यक्ष लक्षण - ज्ञातृव्यापार

मीमांसादर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप का निर्देश सर्वप्रथम जैमिनीय सूत्र में मिलता है -

'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।[37]

जैमिनी सूत्र पर शाबरभाष्य आदि कई टीकाएं हैं, जिनमें इस लक्षण का विभिन्न दृष्टिकोणों से विवेचन है । मीमांसा श्लोक वार्तिक में भवदास की व्याख्या में इस सूत्र को प्रत्यक्ष लक्षण का विधायक माना गया है ।[38] अन्य व्याख्याओं में इस लक्षण को अनुवादक माना गया है ।[39] शाबरभाष्य[40] में इस सूत्र के शाब्दिक विन्यास में मतभेद रखकर पाठान्तर मानने वाली वृत्ति का भी उल्लेख है । कुमारिल ने पहले प्रचलित सभी मान्यताओं का खण्डन करके अपने ढंग से उसे अनुवाद रूप प्रतिपादित किया है ।[41] इस प्रकार मीमांसक ज्ञातृव्यापार को प्रत्यक्ष मानते हैं । मीमांसाश्लोकवार्तिक[42] में तथा शास्त्रदीपिका[43] में लिखा है कि ज्ञातृ व्यापार के बिना पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता । कारक तभी कारक कहा जाता है, जब उसमें क्रिया होती है । आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा पदार्थ का मेल होने पर ज्ञात का व्यापार होता है और वह व्यापार ही पदार्थ का ज्ञान कराने में कारण होता है । अतः ज्ञाता का व्यापार ही प्रमाण है ।

मीमांसकों के प्रत्यक्ष लक्षण की समीक्षा

मीमांसकों की इस मान्यता का खण्डन वैदिक, बौद्ध तथा जैन सभी तार्किकों ने किया है । वैदिक परम्परा में उद्योतकर ने न्यायवार्तिक[44] में, वाचस्पति ने तात्पर्यटीका[45A] में तथा जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी[45B] में विस्तार से खण्डन किया है । बौद्ध दार्शनिकों में सर्वप्रथम दिङ्नाग ने अपने प्रमाण समुच्चय[46] में इसका खण्डन किया है । शान्तरक्षित आदि ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है ।

जैन परम्परा में

प्रभाचन्द्र[47-48] अभयदेव[49]

हेमचन्द्र[50] तथा देवसूरि[51] ने ज्ञातृव्यापार का विस्तार से खण्डन किया है । जिसका निष्कर्ष इस प्रकार है–

1. ज्ञातृव्यापार किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, इसलिए वह प्रमाण नहीं है ।

2. प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञातृव्यापार सिद्ध नहीं होता । क्योंकि न तो ज्ञातृव्यापार का संबंध है और न मीमांसक स्वसंवेदन को मानते हैं ।

3. अनुमान प्रमाण से भी ज्ञातृव्यापार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसमें साधन से साध्य का ज्ञान रूप अनुमान नहीं बनता ।

4. अर्थापत्ति से भी ज्ञातृव्यापार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ का साध्य के साथ संबंध नहीं बनता ।

5. प्रमाणों से सिद्ध न होने पर भी ज्ञातृव्यापार का अस्तित्व मानना उपयुक्त नहीं है।

बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष-लक्षण

प्रत्यक्ष-लक्षण की दो धाराएं

बौद्ध न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष-लक्षण की दो परम्पराएं देखी जाती हैं– पहली अभ्रान्त पद रहित और दूसरी अभ्रान्त पद सहित। पहली परम्परा के पुरस्कर्ता दिड्नाग हैं तथा दूसरी के धर्मकीर्ति। प्रमाणसमुच्चय[52] और न्यायप्रवेश[53] में पहली परम्परा के अनुसार लक्षण और व्याख्या है। न्यायबिन्दु[54] और उसकी धर्मोत्तरीय[55] आदि वृत्ति में दूसरी परम्परा के अनुसार लक्षण एवं व्याख्यान है। शान्तरक्षित ने तत्वसंग्रह[56] में दूसरी परम्परा का ही समर्थन किया है। धर्मकीर्ति का लक्षण इस प्रकार है -

'प्रत्यक्षम्' कल्पनापोढमभ्रान्तं।[57]

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष -

अभ्रान्त पद के ग्रहण या अग्रहण करने वाली दोनों परम्पराओं में प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक माना गया है। बौद्धों का कहना है कि प्रत्यक्ष में शब्द संसृष्ट अर्थ का ग्रहण संभव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है, और वह क्षणिक है। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्पक ही होता है।

क्षणभंगवाद -

बौद्धों की इस मान्यता की पृष्ठभूमि में उनका दार्शनिक सिद्धांत क्षणभंगवाद है। यत् सत् तत् क्षणिकम्[58] जो सत् है, वह क्षणिक है– इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्यक्ष जिस स्वलक्षण को ग्रहण करता है, उसमें कल्पना उत्पन्न हो, उसके पूर्व ही वह नष्ट हो जाता है। इसलिए वह सविकल्पक नहीं हो सकता।

इन्द्रियज्ञान में तदाकारता का अभाव -

बौद्धों का कहना है कि अर्थ में शब्दों का रहना सम्भव नहीं है और न अर्थ और शब्द का तादात्म्य संबंध ही है। इसलिए अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में ज्ञान को उत्पन्न न करने वाले शब्द के आकार का संसर्ग नहीं रह सकता। क्योंकि जो जिसका जनक नहीं होता वह उसके अ ाकार को धारण नहीं कर सकता। जैसे रस से उत्पन्न होने वाला रसज्ञान अपने जनक रूप आदि के आकार को धारण नहीं करता। इन्द्रियज्ञान केवल नील आदि अर्थ से उत्पन्न होता है, शब्द से उत्पन्न नहीं होता। इसलिए वह शब्द के आकार को धारण नहीं कर सकता। इस प्रकार शब्द के आकार को धारण न करने के कारण वह शब्दग्राही नहीं हो सकता। जो ज्ञान जिसके आकार नहीं होता वह उसका ग्राहक नहीं हो सकता। अतएव निर्विकल्प ज्ञान ही प्रमाण है।

निर्विकल्पक ज्ञान और लोक-व्यवहार -

निर्विकल्पक ज्ञान में सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति है। अतः वह उसके द्वारा समस्त व्यवहारों में कारण होता है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष के विषय को लेकर ही बाद के विकल्प उत्पन्न होते हैं। इसलिए निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

बौद्धों के प्रत्यक्ष लक्षण की समीक्षा -

बौद्धों की इस मान्यता का बौद्धोत्तर तर्क ग्रंथों में विस्तार से खण्डन किया गया है। भामह ने काव्यालंकार[59] और उद्योतकर ने न्यायवार्तिक[60] में दिड्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण का तथा वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका[61], जयन्त भट्ट की न्यायमंजरी[62], श्रीधर की न्यायकन्दली[63] और शालिकनाथ की प्रकरण-परीक्षा[64] में धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण की समीक्षा की गयी है।

जैन दार्शनिकों ने दिडनाग तथा धर्मकीर्ति दोनों के लक्षणों की समीक्षा की है। विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[65] में प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र[66] तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड[67] में, एवं हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा[68] में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विस्तार से खण्डन किया है।

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से अप्रामण -

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होता है। अनिश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रमाण वहीं कहलाता है जो निश्चयात्मक हो।

लोक व्यवहार में साधक न होने से अप्रमाण -

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से व्यवहार में अनुपयोगी है। जिस प्रकार मार्ग में चलते हुए तृणस्पर्श आदि का अनध्यवसाय रूप ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से लोक व्यवहार में उपयोगी नहीं है, उसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान भी अनुपयोगी है। अतएव वह प्रमाण नहीं हो सकता।

जैन सम्मत प्रत्यक्ष प्रमाण -

दो परम्पराएं -

जैन परमपरा में प्रत्यक्ष के लक्षण की दो परम्पराएं उपलब्ध होती हैं। पहली परम्परा मुख्य रूप से आगमिक मान्यताओं के आधार पर चली है। दूसरी परम्परा में आगमिक मान्यता तथा न्यायशास्त्र की मान्यता के समायोजन का प्रयत्न किया गया है। इस समग्र चर्चा का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है–

जैन आगमिक परम्परा में प्रत्यक्ष - लक्षण और उसके भेद -

जैन परम्परा में प्रमाण की चर्चा ज्ञान चर्चा से प्रारम्भ होती है। आगमिक सिद्धांतों को संस्कृत सूत्र रूप में प्रस्तुत करने वाले आचार्य उमास्वामी ने ज्ञान के पांच भेद बताकर प्रथम दो को परोक्ष तथा अन्य तीन को प्रत्यक्ष कहा है–

'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।

आद्ये परोक्षम्।

प्रत्यक्षमन्यत्।[69]

अवधिज्ञान आदि तीनों ज्ञानों की परिभाषाएं इस प्रकार हैं–

अवधिज्ञान -

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थों को जानता है वह अवधिज्ञान है। इसके मूल में दो भेद हैं -- 1. भवप्रत्यय तथा 2. क्षयोपशमनिमित्तक। क्षयोपशमनिमित्तक के वर्धमान, हीयमान आदि छह भेद हैं।

मनः पर्ययज्ञान -

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जान लेता है, वह मनः पर्ययज्ञान है। अवधिज्ञान की अपेक्षा यह ज्ञान अधिक विशुद्ध है, किन्तु यह केवल मनुष्यों के ही हो सकता है, जबकि अवधिज्ञान देव, नारकी आदि को भी हो सकता है। अवधिज्ञान मिथ्या भी होता, किन्तु मनः पर्ययज्ञान मिथ्या नहीं होता।

केवलज्ञान -

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना त्रिकालवर्ती रूपी अरूपी सभी पदार्थों की सभी पर्यायों को युगपत जाने, वह केवलज्ञान है।

उपर्युक्त तीनों ज्ञान आत्मसापेक्ष ज्ञान हैं। इनमें इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं है। आत्मा की विशुद्धि के अनुसार इन ज्ञानों की प्रवृत्ति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पदार्थों की ओर होती है।

केवलज्ञानी या सर्वज्ञ -

केवलज्ञान सम्पन्न आत्मा को जैनदर्शन में सर्वज्ञ कहा है। जैन शास्त्रों में सर्वज्ञवाद का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। आगे संक्षेप में इस पर विचार करेंगे।

इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है -

आत्म सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष मानकर जैन दार्शनिकों ने इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान की प्रत्यक्षता को अस्वीकार किया है। इस विषय में मुख्य तर्क ये हैं :

1. इन्द्रियां जड़ हैं जबकि ज्ञान चेतन है। जड़ से चेतन ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

2. इन्द्रियां आत्मा से भिन्न हैं इसलिए 'पर' हैं। पर सापेक्षज्ञान परोक्ष ही होगा, प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

3. इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने पर सर्वज्ञ ही सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि इन्द्रिय सापेक्षज्ञान सीमित तथा क्रम से प्रवृत्ति करने वाला होता है।

4. इसलिए पर से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परोक्ष तथा जो केवल आत्मा से जाना जाए वह प्रत्यक्ष है -

'जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जं केवलेण णादं हवदि हु जीवेण पच्चक्खं ।।'[70]

जैन दार्शनिक परम्परा में प्रत्यक्ष का लक्षण और भेद -

दार्शनिक परम्परा के जैन ग्रंथों में प्रत्यक्ष के लक्षण इस प्रकार मिलते हैं :

1. सिद्धेसन	-	'अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशाम्। प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ।।'[71]
2. अकलंक	-	'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमंजसा।'[72]
3. माणिक्यानन्दि	-	'विशदं प्रत्यक्षम्।'[73]
4. हेमचन्द्र	-	'विशदः प्रतयक्षम्।'[74]

इस प्रकार दार्शनिक परम्परा में विशदज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया। विशद का अर्थ अकलंक ने इस प्रकार दिया है -

'अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धैरवेशद्यमतः परम्।।'[75]

इसी को माणिक्यनन्दि ने इस प्रकार कहा है :

'प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्।[76]

हेमचन्द्र ने लिखा है -

'प्रमाणान्तरान्पेक्षेदन्तया प्रतिमासो व वैशद्यम्।'[77]

प्रत्यक्ष की यह परिभाषा दार्शनिक युग के घात-प्रतिघात का परिणाम प्रतीत होती है, क्योंकि जैन और बौद्ध को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों ने इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है, जबकि जैनों ने उसे परोक्ष माना। इस मान्यता के निरन्तर विरोध का परिणाम ही यह प्रतीत होता है कि अकलंक ने प्रत्यक्ष की परिभाषा विशदज्ञान स्थिर की।

प्रत्यक्ष के भेद-

जैन दार्शनिक परम्परा में प्रत्यक्ष के मुख्य दो भेद किए गए है :

1. सांव्यवहारिक या लौकिक प्रत्यक्ष।

2. मुख्य या पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है :

(1) विकल प्रत्यक्ष तथा (2) सकल प्रत्यक्ष

मतिज्ञान सांव्यवहारिक या लौकिक प्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान तथा मनः पर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं एवं केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है ।

इस प्रकार दार्शनिक परम्परा में प्रत्यक्ष के भेदों का दिग्दर्शन निम्न प्रकार होगा :

प्रत्यक्ष
- सांव्यवहारिक या लौकिक (मतिज्ञान)
- मुख्य या पारमार्थिक
  - विकल प्रत्यक्ष या देश प्रत्यक्ष (अवधि तथा मनःपर्यय)
  - सकल-प्रत्यक्ष (केवल ज्ञान)

इस प्रकार प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक या लौकिक प्रत्यक्ष में इन्द्रिय ज्ञान को सम्मिलित करके दार्शनिक परम्परा ने लौकिक परम्परा का समायोजन किया है, दूसरी ओर मुख्य प्रत्यक्ष के विकल और सकल भेदों के अंतर्गत अवधि, मनः पर्यय तथा केवलज्ञान की गणना करके आगमिक परम्परा का निर्वाह किया गया है। इनका विशेष विवेचन इस प्रकार है–

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष -

पांच इन्द्रियों और मन, के यथायोग्य कारणों से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से इसके दो भेद कर सकते है :

1. इन्द्रियसांव्यवहारिक

2. अनिन्द्रियसांव्यवहारिक

इन्द्रियसांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय तथा मन दोनों की सहायता से उत्पन्न होता है। अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष केवल मन की सहायता से उत्पन्न होता है।

ज्ञान का उत्पत्ति - क्रम -

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष चार भागों में विभाजित है - अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा। यही ज्ञान का उत्पत्ति क्रम है। सर्वप्रथम ज्ञान अवग्रह के रूप में उत्पन्न होता है। उसके बाद उसमें ईहा द्वारा विशेष ग्रहण होता है। तदनन्तर अवाय के द्वारा वस्तु के स्वरूप का निश्चयात्मक ज्ञान होता है जो बाद में घारणा के रूप में स्थायित्व प्राप्त करता है। इस तरह इन चारों की परिभाषाएं निम्न प्रकार होंगी -

1. अवग्रह - वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्पर्क होने के बाद अर्थ का जो सामान्य ग्रहण रूप

ज्ञानहोता है, वह अवग्रह कहलाता है। जैसे किसी मनुष्य को देखकर यह मनुष्य है, इस रूप का सामान्य ज्ञान अवग्रह है–

'अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः।'[78]

अवग्रह दो प्रकार का होता है– (1) व्यंजनावग्रह तथा (2) अर्थावग्रह।

अस्पष्ट ग्रहण को व्यंजनावग्रह कहते हैं तथा स्पष्ट ग्रहण को अर्थावग्रह। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि[79] में एक दृष्टान्त द्वारा दोनों का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है -- जैसे मिट्टी के नये सकोरे पर जल के दो-चार छीटे देने से वह गीला नहीं होता, किन्तु बार-बार पानी के छोटे देते रहने पर वह सकोरा धीरे-धीरे गीला हो जाता है। इसी प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियों में आया हुआ शब्द अथवा ग्रंथ आदि दो-तीन क्षण तक स्पष्ट नहीं होते, किन्तु बार-बार ग्रहण करने पर स्पष्ट हो जाते हैं। अतः स्पष्ट ग्रहण से पहले व्यंजनावग्रह होता है, बाद में अर्थावग्रह। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि जैसे अवग्रह ज्ञान दर्शनपूर्वक ही होता है, वैसे अर्थावग्रह व्यंजनावग्रह पूर्वक ही हो। क्योंकि अर्थावग्रह पांचों इन्द्रियों तथा मन से होता है, जबकि व्यंजनावग्रह चक्षु ओर मन के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों से होता है।

व्यंजनावग्रह केवल चार इन्द्रियों से मानने का कारण यह है कि जैन दर्शन चक्षु तथा मन को अप्राप्यकारी मानते हैं। अर्थात् चक्षु और मन अन्य इन्द्रियों की तरह वस्तु से संस्पृष्ट होकर नहीं जानते, प्रत्युत अलग रहकर ही जानते हैं। यही कारण है कि जैनों ने नैयायिकों के सन्निकर्ष का खण्डन किया है।

अवग्रह के विषय में जैन आचार्यों ने विस्तार से विचार किया है, जिसमें पारस्परिक अंतर भी उपलब्ध होता है। उसके विस्तार में जाना प्रकृत में अपेक्षित नहीं है।

ईहा-

अवग्रह से ग्रहीत अर्थ में विशेष जानने की आकांक्षा रूप ज्ञान को ईहा कहते है -

'अवगृहीतविशेषाकांक्षणमीहा।'[80]

जैसे चक्षु के द्वारा शुक्ल रूप को ग्रहण करने के बाद उसमें यह पताका है या बगुलों की पंक्तिहै अथवा यदि किसी पुरुष को देखा तो यह किस देश का है, किस उम्र का है आदि जानने की आकांक्षा ईहा है।

ईहा ज्ञान निश्चयोन्मुखी होने से संशय ज्ञान नहीं है। क्योंकि संशय में विरुद्ध अनेक कोटियों का ग्रहण होता है। ईहा में यह बात नहीं है। अवग्रह के द्वारा गृहीत अर्थ ईहा के द्वारा निश्चयोन्मुखी होता है।

अवाय या अपाय -

अवग्रह द्वारा सामान्य रूप से गृहीत तथा ईहा द्वारा विशेष रूप से जानने के लिए ईहित अर्थ को निर्णयात्मक रूप से जानना अवाय है। कहीं कहीं इसे अपाय भी कहा गया है। हेमचन्द्र ने अवाय का लक्षण इस प्रकार दिया है -

'ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः।'[81]

जैसे ईहा के उपर्युक्त उदाहरण में पंखों के फड़फड़ाने आदि से यह निश्चयात्मक ज्ञान होना कि यह बगुलों की पंक्ति ही है।

धारणा -

अवाय द्वारा निर्णीत वस्तु को कालान्तर में न भूलना धारणा है। हेमचन्द्र ने लिखा है --

'स्मृतिहेतुद्धारणा।'[82]

जैसे सायंकाल के समय सुबह वाली बगुलों की पंक्ति को देखकर यह ज्ञान होना कि यह वही बगुलों की पंक्ति है, जिसे मैने सुबह देखा था।

ये अवग्रह आदि ज्ञान इसी क्रम से उत्पन्न होते हैं। इस क्रम में कोई व्यतिक्रम नहीं होता। क्योंकि अदृष्ट पदार्थ का अवग्रह नहीं होता, अनवगृहीत में संदेह नहीं होता, संदेह के हुए बिना ईहा नहीं होती। ईहा के बिना अवाय नहीं होता और अवाय के बिना धारणा नहीं होती।

अवग्रह, ईहा तथा अवाय का काल एक-एक अन्तर्मुहूर्त है, किन्तु धारणा का काल संख्यात अथवा असंख्यात अंतर्मुहूर्त है। ज्ञान के इस उत्पत्ति क्रम में समय का दीर्घतर व्यापार न होने से सभी ज्ञान एक साथ होते प्रतीत होते हैं। जैसे कमल के सौ पत्तों को सुई से एक साथ छेदने पर ऐसा प्रतीत होती है कि सारे पत्ते एक ही समय में छेदे गये। काल भेद सूक्ष्म होने से वह हमारी दृष्टि में नहीं आता।

पूर्व-पूर्व का ज्ञान होने पर उत्तरोत्तर ज्ञान अवश्य हो ऐसा नियम नहीं, किन्तु उत्तर ज्ञान तभी होगा जब पूर्व ज्ञान हो चुकेगा। यही इनका क्रम ज्ञान ही उत्पत्ति में पाया जाता है।

अवग्रह आदि के अवान्तर भेद -

अर्थ के अवग्रह आदि चारों ज्ञान पांच इन्द्रियों तथा मन की सहायता से होते हैं। अतएव प्रत्येक के छह-छह भेद होने से चारों के चौबीस भेद होते हैं। व्यंजनावग्रह केवल चार ही इन्द्रियों के निमित्त से होता है इसलिए उसके चार ही भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर अट्ठाइस भेद होते हैं। दिगम्बर परम्परा में इनके बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, अध्रुव तथा इनके विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, निसृत, उक्त तथा ध्रुव ये बारह भेद मानकर सब तीन सौ छत्तीस भेद माने जाते हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष -

जो ज्ञान इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना केवल आत्मा से होता है उसे मुख्य या पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके दो भेद हैं– (1) विकल प्रत्यक्ष या देश प्रत्यक्ष तथा (2) सकल प्रत्यक्ष। विकल प्रत्यक्ष के दो भेद हैं - (1) अवधिज्ञान, (2) मनः पर्ययज्ञान। इन सबका सामान्य स्वरूप पहले बताया है।

मुख्य या सकल प्रत्यक्ष -

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा से त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों की सभी पर्यायों को एक साथ जानता है, उसे मुख्य या सकल प्रत्यक्ष कहते हैं। इसे केवल ज्ञान भी कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के समूल नाश से आत्मा के ज्ञान स्वरूप का प्रकट होना केवलज्ञान है। हेमचन्द्र ने लिखा है–

'सर्वथारवरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम्।'[83]

केवलज्ञान युक्त आत्मा को जैन दार्शनिकों ने सर्वज्ञ कहा है। जैन शास्त्रों में सर्वज्ञता का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

सर्वज्ञता की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि -

जैन दर्शन में आत्मा को ज्ञान गुण युक्त चेतन द्रव्य माना गया है। कर्मों के आवरण के कारण

उसका यह ज्ञान गुण पूर्ण रूप से प्रकट नहीं होता। जैसे-जैसे कर्म का आवरण हटता जाता है, वैसे वैसे ज्ञान का विकसित रूप प्रकट होता जाता है। इस प्रकार जब आवरण सर्वथा हट जाता है तो निरावरण केवलज्ञान प्रकट होता है। इसे क्षायिक ज्ञान भी कहते हैं। केवलज्ञानी त्रिकालवर्ती सभी रूपी-अरूपी द्रव्यों की समस्त पर्यायों को एक साथ जानता है। कुन्दकुन्द ने लिखा है–

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥
जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं समज्ञयं दव्वमेकं वा॥
दव्वं अणंतपज्ञयमेक्कमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि॥[84]

सर्वज्ञसिद्धि का दार्शनिक आधार -

सर्वज्ञ की उपर्युक्त सैद्धांतिक मान्यता को बाद के दार्शनिकों ने तार्किक आधार देकर सिद्ध किया है। मुख्य आधार अनुमान प्रमाण है। समन्तभद्र ने लिखा है–

'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्नयादिरितिसर्वज्ञसंस्थितिः॥'[85]

सूक्ष्म पदार्थ परमाणु आदि, अन्तरित राम, रावण आदि, दूरार्थ सुमेरु पर्वतादि, अग्नि आदि की तरह अनुमेय होने से किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं। इस हेतु से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

भट्ट अकलंक ने सर्वज्ञता का समर्थन करते हुए लिखा है कि आत्मा में समस्त पदार्थों के जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्था में उसके ज्ञान का ज्ञानावरण से आवृत होने के कारण पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, पर जब चैतन्य के प्रतिबन्धक कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है तब उस अप्राप्यकारी ज्ञान को समस्त अर्थों के जानने में क्या बाधा है[86]। यदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान न हो सके तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहों की ग्रहण आदि भविष्यकालीन दशाओं का उपदेश कैसे हो सकेगा। ज्योतिर्ज्ञानोपदेश अविसंवादी और यथार्थ देखा जाता है। अतः यह मानना अनिवार्य है कि उसका यथार्थ उपदेश अतीन्द्रियार्थ दर्शन के बिना नहीं हो सकता। जैसे सत्य स्वप्न दर्शन इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना ही भावी राज्यलाभ आदि का यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है, उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान भी भावी पदार्थों में संवादक और स्पष्ट होता है। जैसे ईक्षणिकादि विद्या अतीन्द्रिय पदार्थों का स्पष्ट भान करा देती है, उसी तरह अतीन्द्रिय ज्ञान भी स्पष्ट प्रतिभासक होता है (सिद्धिवि. न्यायवि. आदि)।

हेमचन्द्र ने लिखा है -

'प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः।'[87]

इस प्रकार अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञता का प्रतिपादन किया गया है।

सर्वज्ञता की सिद्धि में बाधक प्रमाण का अभाव -

अकलंक ने सर्वज्ञता की सिद्धि में एक ओर यह हेतु दिया है कि सर्वज्ञता की सिद्धि में कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है। बाधक का अभाव सिद्धि का बलवान साधक है। जैसे 'मैं सूखी हूँ' यहां सुख का साधक प्रमाण यही हो सकता है कि मेरे सुखी होने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है। चूंकि सर्वज्ञ

की सत्ता में कोई बाधक प्रमाण नहीं है, इसलिए उसकी निर्बाध सत्ता सिद्ध है। अकलंक ने लिखा है–

'अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्, सुखादिवत्।'[88]

इसी सरणी पर बाद के जैन दार्शनिकों ने सर्वज्ञसिद्धि का विस्तृत विवेचन किया है।

इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने प्रमाणशास्त्र की कसौटी पर भी आत्मतत्त्व की चरम प्रतिष्ठा की। भारतीय प्रमाणशास्त्र को जैन दार्शनिकों का यह महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्रमाण शास्त्र के इतिहास में इसका समुचित समावेश किया जाना चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ -

1. न्यायमाष्य, वात्स्यायन, चौखम्बा सीरीज, काशी, 1.1.3
2. न्यायवार्तिक, उद्योतकर, चौखम्बा सीरीज, काशी, 1.1.3
3. न्यायसूत्र भामती टीका, उद्योतकर, चौरवम्बा सीरिज, काशी, 1.1.4
4. न्यायभाष्य पृ. 255 न्यायमञ्जरी, जयन्तभट्ट, विजयानगरम् सीरिज, काशी, पृ. 73, 479
5. न्यायवार्तिक, वही, पाद टिप्पण 2, पृ. 31

6.A न्यायमञ्जरी, वही, पाद टिप्पण 4, पृ. 72

6.B वही पृ. 74

7. न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमाचन्द्र, सम्पादक पं. महेन्द्रकुमार जैन, माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, प्रथम संस्करण, सन् 1947, पृ. 25-32
8. प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रभाचन्द्र, सम्पादक पं. महेन्द्र कुमार जैन, निर्णयसागर मुद्राणालय, बम्बई, द्वितीय संस्करण, सन् 1941, पृ. 14-18
9. तत्त्वार्थवार्तिक, भट्ट अकलङ्कदेव, सम्पादक पं. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, सन् 1953, पृ. 48
10. न्यायकुमुदचन्द्र, वही, पाद टिप्पण 7, पृ. 75-82
11. प्रमेयकमलमार्तण्ड, वही, पाद टिप्पण 8, पृ. 220-229
12. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, सम्पादक पं. फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, सन् 1944, पृ. 57
13. तत्वार्थवार्तिक, वही, पाद टिप्पण 9, पृ. 36
14. न्यायकुमुदचन्द्र, वही, पाद टिप्पण 7, पृ. 32
15. न्यायमञ्जरी, वही, पाद टिप्पण 4, पृ. 12
16. न्यायकुमुदचन्द, वही, पाद टिप्पण 7, पृ. 35-39
17. प्रमेयकमलमार्तण्ड, वही, पाद टिप्पण 8, पृ. 7-13
18. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, वाचस्पति मिश्र, चौरवम्बा सीरिज, वाराणसी, पृ. 155
19. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, चौरवम्बा सीरिज, वाराणसी, कारिका 5
20. सांख्यसूत्र, चौरवम्बा सीरिज, काशी, 1.89

21,22. प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्र सूरि, सम्पादक पं. सुखलाल संघवी, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, सन् 1939 पृ. 24

23. सांख्यकारिका, वही, पद टिप्पण 19

24. सांख्यकारिका माठरवृत्ति, चौरवम्बा सीरिज, काशी, पृ. 47
25,26. योगदर्शन व्यासभाष्य, चौरवम्बा सीरिज, काशी, पृ. 27
27. सांख्यप्रवचन भाष्य, चौरवम्बा सीरिज, काशी पृ. 47
28. प्रमाणसमुच्चय, दिङ्नाग, मैसूर युनिवर्सिटि सीरिज, मैसूर, 1.27
29. न्यायवार्तिक, उद्योतकर, वही, पाद टिप्पण 2, पृ. 43
30. न्यायवार्तिक, वही, पाद टिप्पण 4, पृ. 107
31. न्यायविनिश्चय, भट्ट अकलङ्क देव, सम्पादक, पं. महेन्द्रकुमार जैन भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण 1947, 1.165
32. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, विद्यानन्द निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, पृ. 187
33. न्यायकुमुदचन्द्र, वही, पाद टिप्पण 7, पृ. 40-41
34. प्रमेयकमलमार्तण्ड, वही, पाद टिप्पण 8, पृ. 19
35. स्याद्वादरत्नाकर, देवसूरि, अर्हत् प्रभाकर कार्यालय, पूना, पृ. 72
36. प्रमाण मीमांसा, वही, पाद टिप्पण 8, पृ. 24
37. जैमिनीयसूत्रशाबरभाष्य, आनन्दाश्रम सीरिज, पूना, 1.1.4
38. मीमांसाश्लोकवार्तिक, कुमारिल, चौरवम्बा सीरिज, काशी प्रत्यक्ष. श्लोक 1
39. वही प्रत्यक्ष. श्लोक 16
40. जैमिनीसूत्र शाबर भाष्य, वही, पाद टिप्पण 39, 1.1.5
41. मीमांसाश्लोकवार्तिक, वही, पाद टिप्पण 38, प्रत्यक्ष. श्लोक. 1-39
42. वही पृ. 151
43. शास्त्रदीपिका, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, पृ. 202
44. न्यायवार्तिक, वही, पाद टिप्पणी 2, पृ. 43
45.A न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, वही, पाद टिप्पण 18, पृ. 155
45.B देखें पाद टिप्पण 4, पृ. 100
46. प्रमाणसमुच्चय, दिङ्नाग, जायसवास इंस्टीटयूट, पटना, 1.37
47. न्यायकुमुदचन्द्र, वही, पाद टिप्पण 7, पृ. 42-45
48. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, वही, पाद टिप्पण 8, पृ. 20-25
49. सन्मतितर्क टीका, अभयदेव, गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद पृ. 534
50. प्रणाणमीमांसा, वहीं, पाद टिप्पण 21, पृ. 23
51. स्याद्वादरत्नाकर, वही, पाद टिप्पण 35, पृ. 381
52. प्रमाणसमुच्चय, वही पाद टिप्पण 28, 1.3
53. न्याय प्रवेश, चौरवम्बा सीरिज, काशी, पृ. 7
54. न्यायबिन्दु, धर्मकीर्ति, जायसवाल सीरिज, पटना, 1.4
55. न्यायबिन्दुवृत्ति, धर्मोत्तर, जायसवाल सीरिज, पटना
56. तत्त्वसंग्रह, शान्तरक्षित, ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा, का. 1214
57. न्यायबिन्दु, वही, पाद टिप्पण 54, 1.4
58. बौद्धदर्शन, सोमतिलक द्वारा उद्धृत, षड्दर्शन समुच्चय, भारतीय ज्ञानपीठ काशी
59. काव्यालङ्कार, भामह, चौरवम्बा सीरिज, काशी 5.6 पृ. 32

60. न्यायवार्तिक, वही, पाद टिप्पण 2, 1.1.14 पृ. 41
61. न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, चौरवम्बा सीरिज, काशी, पृ. 154
62. न्यायमञ्जरी, वही, पाद टिप्पण 4, पृ. 52
63. न्यायकन्दली, श्रीधर, चौरवम्बा सीरिज, काशी, पृ. 190
64. प्रकरणपञ्जिका, शालिकनाथ, चौरवम्बा सीरिज, काशी, पृ. 47
65. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, विद्यानन्द, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, पृ. 185
66. न्यायकुमुदचन्द्र, वही, पाद टिप्पण 7, पृ. 47
67. प्रमेयकमलमार्तण्ड, वही, पाद टिप्पण 17, पृ. 49
68. प्रमाणमीमांसा, वही, पाद टिप्पण 8, पृ. 23
69. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी, सम्पादक पं. फूलचन्द्र शास्त्री श्री गणेशवर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, वीर निर्वाण संवत् 2476, 1.9, 11, 12
70. प्रवचनसार, कुन्दकुन्द, सम्पादक आ. ने उपाध्ये, राजचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, आगास, द्वितीय संस्करण, सन् 1964, गाथा 1.58
71. न्यायावतार, सिद्धसेन, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्रथम संस्करण सन् 1950, श्लो. 4
72. न्यायविनिश्चय, अकलङ्कदेव, सम्पादक पं. महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, सन् 1949, श्लो. 3
73. परीक्षामुख, माणिक्यनन्दि, सम्पादक पं. मोहनलाल काव्यतीर्थ, सरल जैन ग्रन्थमाला, जबलपुर, सन् 1940, 2.3
74. प्रमाणमीमांसा, वही, पाद टिप्पण 8, 1.13
75. लघीयस्त्रय, अकलङ्कदेव, सम्पादक पं. महेन्द्रकुमार जैन सिंधी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, सन् 1939, श्लो. 4.
76. परीक्षामुख, वही, पाद टिप्पण 73, 2.4
77. प्रमाणमीमांसा, वही, पाद टिप्पण 8, 1.14
78. वही 1.26
79. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, सम्पादक पं. फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् 1965, 1.18
80. प्रमाणमीमांसा, वही, पाद टिप्पण 8, 1.27
81. वही 1.28
82. वही 1.29
83. वही 1.15
84. प्रवचनसार, वही, पाद टिप्पण 70, 1.47-49
85. आप्तमीमांसा, समन्तभद्र, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1967, का. 5
86. न्यायविनिश्चय, वही, पाद टिप्पण 31, श्लोक 465
87. प्रमाणमीमांसा, वही, पाद टिप्पण 8, 1.16
88. सिद्धिविनिश्चय, अकलङ्कदेव, सम्पादक पं. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, सन् 1959

प्राप्त : 20.04.10

लेखकों हेतु संदेश

1. अर्हत् वचन में जैन धर्म/दर्शन के वैज्ञानिक पक्ष तथा जैन इतिहास एवं पुरातत्त्व से सम्बन्धित मौलिक, शोधपूर्ण एवं सर्वेक्षणात्मक आलेखों को प्रकाशित किया जाता है।
2. शोध की गुणात्मकता एवं मौलिकता के संरक्षण हेतु दो प्राध्यापकों अथवा पारम्परिक विषय विशेषज्ञों से परीक्षित करा लेने के उपरान्त ही आलेख अर्हत् वचन में प्रकाशित किये जाते हैं।
3. शोध आलेखों के अतिरिक्त संक्षिप्त टिप्पणियाँ, अकादमिक संगोष्ठियों/सम्मेलनों की सूचनाएँ/आख्याएँ, आलेख एवं पुस्तक समीक्षाएँ भी प्रकाशित की जाती हैं।
4. अर्हत् वचन में प्रकाशित किये जाने वाले समस्त लेख इस अपेक्षा से प्रकाशित किये जाते हैं कि वे न तो पूर्व प्रकाशित हैं एवं न अन्यत्र प्रकाशनार्थ प्रेषित हैं। यदि पूर्व प्रेषित कोई लेख अन्यत्र प्रकाशित हो चुका है तो माननीय लेखकों को इसकी सूचना हमें तत्काल अवश्य भेजनी चाहिये।
5. लेखकगण यदि पुस्तक या लेख से सन्दर्भ ग्रहण करते हैं तो उन्हें सम्बद्ध लेख/पुस्तक का पूर्ण सन्दर्भ देना चाहिये । यथा लेख का शीर्षक, प्रकाशित करने वाली पत्रिका का नाम, प्रकाशन स्थल, वर्ष, अंक, पृष्ठ संख्या अथवा पुस्तक का नाम, लेखक, प्रकाशक, संस्करण, प्रकाशन वर्ष, आवश्यकतानुसार अध्याय, गाथा, पृष्ठ संख्या आदि। उदाहरणार्थ :-
   समान सन्दर्भ की पुनरावृत्ति होने पर बाद में संक्षिप्त नाम प्रयोग में लाया जा सकता हैं।
6. लेखकगण अपने आलेख की दो प्रतियाँ टंकित एक पृष्ठीय सारांश सहित भेजने का कष्ट करें। प्रथम पृष्ठ पर लेख का शीर्षक, लेखक/लेखकों के नाम एवं पत्राचार के पूर्ण पते होने चाहिये। अन्दर के पृष्ठों पर लेखक/लेखकों के नाम न दें। **कृपया हिन्दी के आलेख एम.एस वर्ड में देवलिश फोन्ट में टाइप करके फोन्ट सहित सी.डी. में भी भेजें। कृपया लेख की एक प्रति अपने पास सुरक्षित रखें वापस भेजना संभव नहीं है। लेख ई-मेल से भी भेजे जा सकते हैं।**
7. लेख के साथ लेख के मौलिक एवं अप्रकाशित होने का प्रमाण पत्र अवश्य संलग्न करें एवं अर्हत् वचन में प्रकाशन के निर्णय होने तक अन्यत्र प्रकाशनार्थ न भेजें।

डॉ. अनुपम जैन

सम्पादक - अर्हत्वचन

584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज,

इन्दौर - 452001

फोन : 0731-2545421, 2797790

E-mail: anupamjain3@rediffmail.com

अर्हत् वचन में समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकों को पुस्तकालय में रखा जाता है। जिन पुस्तकों की 2 प्रतियाँ प्राप्त होती है उनमें से चयन करके 01 प्रति समीक्षक को भेजी जाती है। पत्रिका की विषय परिधि के अनुरुप होने पर एवं समीक्षक से समीक्षा प्राप्त होने पर समीक्षा प्रकाशित की जाती है। सभी की समीक्षा प्रकाशित करना संभव नहीं है।

वर्ष - 24, अंक - 1, जनवरी-मार्च - 2012, 25-30

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जल पर शोध का प्रयोजन और स्थिति

■ जीवराज जैन *

सारांश

जैन दर्शन में जलकायिक जीव को पाँच स्थावर जीवों में से एक माना गया है। विज्ञान इसे मात्र H_2O के रूप में एक रसायन मानता रहा। आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने इसमें जीवन की पुष्टि की है। जलकायिक जीवों एवं जल पर आश्रित त्रस जीवों के घात को रोकने के उपायों, मानव स्वास्थ्य एवं पर्यावरण संरक्षण हेतु इनकी उपयोगिता, पारम्परिक जैन विधियों विशेषतः सचित्त से अचित्त करने की रीतियों की सविस्तार चर्चा प्रस्तुत आलेख में है।

– सम्पादक

अ) जैन धर्म की वैज्ञानिकता -

हम सभी गर्व से यह कहते नहीं थकते कि हमारा धर्म बहुत वैज्ञानिक है। लेकिन बच्चों को लगता है कि हम झूठा घमण्ड कर रहे हैं। क्योंकि स्कूल का एक जैन छात्र यह तो जानता है कि जैनी लोग पानी और अग्नि को जीव मानते हैं। लेकिन विज्ञान में पानी और अग्नि को जीव मानने की कोई भी अवधारणा नहीं है।

कई साधुओं से या कुछ श्रावकों से यह कई बार सुनने को मिलता रहता है कि जैन विज्ञान के अनुसार पानी की एक बूंद में असंख्यात अपकाय के जीव होते हैं तथा अब तो विज्ञान भी मानता है कि पानी की एक बूंद में 36450 जीव होते है। लेकिन यह एक बहुत ही भ्रामक और गलत उदाहरण है। इससे हमें आगम की अशातना ही लगती है।

वास्तव में एक खोजी ब्रिटानी युवक केप्टन स्कोर्सबी ने गंगा जल के एक नमूने का खुर्दबीन से निरीक्षण किया था। उस पानी के नमूने के एक जल बूंद में त्रसकाय व वनस्पति काय के कुल 36450 जीव देखे गये थे।

यहां यह बात ध्यान में रखें कि

1. यह संख्या अलग-अलग प्रकार के पानी के नमूनों में अलग-अलग होगी। यहां तक कि जीरो-बी (फिल्टर पानी) में यह शून्य भी हो सकती है। यह तथ्य विज्ञान और आगम दोनों को मान्य है।

2. लेकिन जैन विज्ञान तो अपकाय के जीवों की संख्या की बात करता है। न कि उसमें घूम रहे त्रसकाय के जीवों की बात करता है। यानि ऐसा जीव, जिस की पानी ही काया है। और ऐसे जीव की विज्ञान में अभी तक कोई भी अवधारणा नहीं है।

3. यदि आज के शक्तिशाली खुर्दबीन से निरीक्षण करेंगे तो पानी के किसी नमूने में लाखों/करोड़ों जीव पाये जा सकते हैं।

4. विज्ञान पानी को केवल एक साधारण रसायन H_2O ही मानता है। जीवन के लिए आवश्यक और मूलभूत कोई भी रसायन (DNA और RNA) उसमें नहीं होता है।

36450 त्रसकाय के जीवों के आधार पर लोगों को यह कहना कि आज-कल विज्ञान भी पानी

* 40, कमानी सेन्टर, द्वितीय तल, बिस्तुपुर, जमशेदपुर 831001 झारखंड

में असंख्यात जीव मानने लगा है और इसीलिए आगम के अपकाया की मान्यता सही है, एक भ्रामक और अश्रद्धा पैदा करने वाला तर्क है। हाँ, इतने त्रसकाय के जीवों के आधार पर यह राय दे सकते हैं कि पानी को छान कर पीयें।

5. यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि बुजुर्ग लोग धर्म को वैज्ञानिक मानते हैं, तो फिर विज्ञान से ऐसा मनवाने का, क्यों नहीं कोई प्रयास किया गया? क्यों कोई व्यक्ति, समाज के इस प्रमाद को तोड़ने में सफल नहीं हुआ ? अतः जैनी लोग इतना ही कह सकते हैं कि आगमानुसार पानी भी एक स्थावर काय का जीव होता है।

ब) वैज्ञानिक शोध के प्रयास -

सन् 2003 में यह समझने का वैज्ञानिक प्रयास शुरु हुआ कि पानी का ऐसा जीव किस प्रकार का हो सकता है, जिसकी पानी ही काया हो। प्रश्न था कि गर्म करने से या धोवन बनाने से कैसे और क्यों निर्जीव हो जाता है? कुछ समय बाद यह फिर से जिंदा या संचित कैसे हो जाता है ?

सतत् प्रयास व प्रयोगों द्वारा इन सबकी वैज्ञानिकता ढूंढ़ते-ढूंढ़ते 7 साल बाद यह स्थिति तो आ गई है कि अब जैन समाज, विज्ञान को उसकी भाषा में ही यह बता सकता है कि अपकाय का जीव किस प्रकार का होता है ? यानि उसकी संरचना किस प्रकार की है, कैसे जीवित रहता है आदि। अब तो यंत्रों के माध्यम से यह बताना भी संभव हो गया है कि कोई पानी का नमूना अचित्त है या सचित्त है।

पानी के जीव का जो प्रतिरूप तैयार किया गया तथा जो परिकल्पना (hypothesis) रखी गई थी, उसका स्वतंत्र रूप से प्रमाणीकरण कराने का भी प्रयास किया गया। इसके लिए एक अन्य वैज्ञानिक की सहायता लेकर, प्रयोगों का पुनरावर्तन कराया गया। इस साल (सन् 2010), उनके द्वारा भेजे फोटोग्राफ्स भी, उपरोक्त सिद्धांत को अभिपुष्ट (validate) करते हैं।

अतः आगम सम्मत जीवन की एक नूतन अवधारणा से विज्ञान को अवगत कराया जा सकता है। हो सकता है कि जैन सिद्धांत की यह प्ररूपणा, विज्ञान को, एक बड़ी क्रांतिकारी देन सिद्ध हो।

स) यह प्रश्न भी कई बार उठाया जाता है कि

✲ जल कोई एकेन्द्रिय जीव होता है या नहीं , यह जानकर क्या करेंगे ?

✲ इस ज्ञान से मानव समाज को क्या फायदा होगा ?

i) इसका उत्तर ढूंढने के पूर्व देखते हैं कि वनस्पति जीव है या नहीं, यह 100 वर्ष पूर्व जानकर क्या फायदा हुआ ?

1. इससे एक पूरा जैव-विज्ञान 'कोषाणु-आधारित' वनस्पति शास्त्र विकसित हुआ।
2. खेती की पैदावार में फायदा हुआ।
3. आनुवांशिक परिवर्तित (पारजीनी) पैदावार विकसित हुई।

ii) उसी प्रकार यदि जल कोषाणु की वैज्ञानिक संरचना मालूम हो जाये, यानि

1. उसकी संरचना कब और कैसे टूटती है और कैसे बनती है ?
2. जीवित पानी या अचित्त पानी के उपयोग में लेने से हमारी शारीरिक रचना और चयापचय में क्या फर्क पड़ता है ?
3. इससे हमारे शरीर अथवा मन पर क्या - क्या प्रभाव पड़ते है ?

यह सब मालूम हो जाने पर उसको मानव समाज के हित में आवश्यकतानुसार सुधारा (manipulate) जा सकता है।

4. हम विज्ञान जगत को एक नये प्रकार के जीवन के सिद्धांत को दे सकेंगे। उसमें बहुत सी अन्य जानकारियां उजागर होगी।

5. मानव को अपने महत्वपूर्ण संसाधन के प्रति नजरिया बदलने में मदद मिलेगी।

6. वैज्ञानिक अवधारणाओं में बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन होगा तथा पर्यावरण संरक्षण में विशिष्ट औजार उपलब्ध होंगे।

द) अब हम जानने को एक प्रयास करते हैं कि अभी तक की वैज्ञानिक शोध से कैसे सिद्ध होता है कि जल भी जीव होता है ?

i) प्राचीन काल की मान्यताएं -

हमारे ऋषि मुनियों ने खोज करके हजारों वर्ष पूर्व बताया था कि जल भी एक प्रकार का वैसा ही जीव है, जैसा कि वनस्पति (पेड़-पौधे) का जीव होता है। सर जगदीशचन्द्र बोस ने करीब 100 वर्ष पूर्व अपने यंत्रों द्वारा, विज्ञान जगत को बताया था कि पेड़–पौधों में संवेदनाएँ होती है तथा वे एक प्रकार के जीव होते हैं। तब से इन पर बहुत तीव्र गति से खोज होने लगी। सर बोस ने तो पत्थरों में भी जीव की कल्पना की थी, लेकिन उन पर कोई प्रयोग करने के पहले ही उनका देहान्त हो गया था। अतः पता नहीं है कि उन्होंने किस प्रकार के कोषाणुओं की उनमें कल्पना अपने मन में संजोयी थी। हो सकता है कि वह किसी भौतिक रवों का अविकसित कोषाणु रूप रहा हो।

ii) शास्त्रानुसार जल के गुण-

हमारे शास्त्रों में जलजीव के बारे में भी काफी विस्तृत वर्णन और चिन्तन मिलता है। जैन ग्रंथों में तो यहां तक बताया गया है कि पानी को उबालने से या उसमें राख आदि घोलने से वह पानी निर्जीव (अचित्त) बन जाता है। फिर यही पानी कुछ घंटों बाद, अलग-अलग ऋतुओं में अलग-अलग अवधि में, जिसको कालमर्यादा कहते हैं, वापिस जीव (सचित्त) बन जाता है। यह सब विज्ञान को एक आश्चर्य लगता है तथा युवा लोगों को प्रेरित करता है कि वे इन तथ्यों के राज की वैज्ञानिकता को उजागर करने का प्रयास करे।

iii) पानी पर वैज्ञानिक शोध -

1. जल की काया (शरीर) का वैज्ञानिक ढांचा -

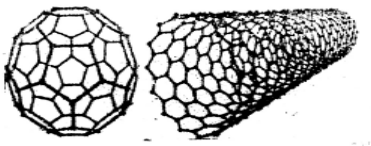

चित्र जल–जीव की काया

इसकी वैज्ञानिकता को समझने के लिए पिछले वर्षों में पानी के अणुओं की बनावट का गहन अध्ययन किया गया। पानी के आवेश धारी अणु, पंजभुजी और षटभुजी द्विआयामी ढांचा, बनाने में सक्षम है। इसके अलावा पानी में घुली हुई हवा भी ऑक्सीजन मूलक (आयन) के रूप में पाई जाती है। इन मूलकों की मौजूदगी में, पानी का पंजभुजी और षटभुजी रवा जुड़कर एक त्रिआयामी ढांचा बनाता है, जो कमरे के तापक्रम पर भी स्थायी रहता है। यह इकाई रूप आकार अपनी केन्द्रित ऊर्जा से सहजातिक अणुओं को आकर्षित करके, 18-60 इकाइयों का एक जालीनुमा, बेलनाकार (बकीबॉल जैसा) कोषाणु बनाता है। इनकी अपनी जुड़ाव की शक्ति काफी मजबूत होती है। यह पाइपनुमा आकार करीब 0.1 म्यू (काफी सूक्ष्म) लम्बा होता है। यह पाईपनुमा नेनो ट्यूब उबालने पर टूट जाती है। इस आकार में, इसकी सतही ऊर्जा अल्पत्तम होती है। (संलग्न चित्र)

2. जीवित रहने की प्रक्रिया और परिकल्पना -

यह ढांचा/कोषाणु अपनी विद्युत ऊर्जा से लगातार समाविष्ट रहता है। फिर सोखी हुई हवा

(ऑक्सीजन) के आयन/मूलक जो इस ट्यूब में प्रवेश कर दूसरी तरफ से बाहर निकल जाते है। इनका संचलन/परिवहन इतना आसानी से होता है, जैसे कि वे भारहीन फोटोन के तरह के कण हो। अपनी गति के द्वारा वे एक अलग प्रकार का विद्युत-ऊर्जा क्षेत्र (होल्स क्षेत्र) पैदा करते रहते हैं। कोषाणु की ऊर्जा, इन मूलकों को एक सक्रिय संतुलन में रखती है। अपने में संचित ऊर्जा को मांग होने पर यह कोषाणु उसे उपलब्ध कराने में समर्थ होता है।

हाल की शोध से, फ्रांस व कोरिया में यह पता लगा है कि इन कोषाणुओं में 'स्मृति' भी होती है। कुछ अन्य प्रयोगों से हमने यह भी पाया है कि इन कोशिकाओं को प्रशिक्षित किया जा सकता है तथा बाद में ये अपनी स्मृति को आवश्यकता होने पर काम में ले लेते हैं। यह निष्कर्ष होम्योपैथी के लिए एक बहुत महत्त्व की खोज है।

3. जल जीव होने का प्रमाण :

a) होम्योपैथी की क्रियाएँ और प्रभाव -

इस पद्धति में दवा का मूल अर्क, अपनी विभिन्न प्रकम्पन गुण और ऊर्जा जल कोशिकाओं के नेटवर्क पर ट्रान्सफर (अंतरण) करके बाहर निकल आता है। यही जीवित कोषाणु मनुष्य के शरीर में जाकर, वहां के कोषाणुओं के लिए उत्प्रेरक का काम करता है। इस प्रक्रिया से जीन्स के संकेत नियमावली और निर्देश बदले जा सकते है। जीवित नेनो ट्यूब की बनावट इतनी मजबूत होती है कि संस्कारित होने के बाद ये ब्राउनियन मोशन से अप्रभावित रहती है ।

b) पानी को निर्जीव बनाने की विधियां और काल मर्यादा -

साधारण पीने का पानी या तो उबालने से या उसमें राख जैसे विजातीय तत्त्व घोलने से वो अचित्त बन जाता है। उबालने से पानी का शरीर टूट कर बिखर जाता है तथा उसमें घुली हुई हवा भी बाहर निकल जाती है। राख आदि के घोलने से पानी के शरीर के छिद्र बंद हो जाते है, जिससे वह श्वासन ले पाने के कारण निर्जीव। अचित्त बन जाता है। पानी जब ठंडा हो जाता है तो उसमें हवा फिर से घुल जाती है तथा उसका शरीर भी वापिस जुड़कर उपयुक्त योनि बन जाता है। मौसम के अनुसार उबाला हुआ पानी कुछ घंटों बाद फिर से सचित्त बन सकता है। यानि निर्जीव अवस्था में बने रहने की एक न्यूनतम समय सीमा होती है। यह 'परिकल्पना' बाद के प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुकी है।

c) आभामंडलीय फोटोग्राफी में सजीव/निर्जीव अवस्था का पानी :

मुम्बई और अहमदाबाद के किये गये हमारे परीक्षणों में यह भी देखा गया है कि पानी को उबालने से या उसमें राख पाउडर घोलने से (धोवन पानी) पानी का आभामंडल बदल जाता है। आभामंडल के फोटो खींचने से (किर्लियन फोटोग्राफी) जीवित और निर्जीव पानी में स्पष्ट फर्क नजर आता है। आश्चर्य तब होता है, जब 7-10 घंटों के बाद, निर्जीव (उबाला पानी) पानी का आभामंडल, फिर से सजीव पानी की तरह का आभामंडल बन जाता है। यानि जैन शास्त्रों में दी गई पानी की काल मर्यादा सही सिद्ध होती है।

iv) निर्जीव पानी पीने के फायदे :

1. 10 लीटर पानी में 50 ग्राम गोबर की राख घोलने से अच्छा अचित्त धोवन बन जाता है। 24 मिनट बाद निथार और छानकर, उसे पीने के काम में लिया जा सकता है।

2. राख से अभिभूत पानी की P^H संख्या 7 से ज्यादा (यानि क्षारीय) होती है। इससे शरीर में जमा अम्लीय कचरा साफ करने में मदद मिलती है।

3. राख से उपचारित पानी ज्यादा शुद्ध और पीने लायक पाया गया।

(जामनगर में गुजरात के वाटर सप्लाई और सिवरेज बोर्ड द्वारा जारी टेस्ट रिपोर्ट, 24 अप्रैल 2010)

4. बैंगलोर के स्कूलों में किये गये परीक्षणों में भी राख घुला पानी (कोलोइड), पूर्व के पानी से ज्यादा साफ और बेक्टीरिया विहीन पाया गया। ऐसा पानी पीने से शरीर में मूलकों की मात्रा कम हो जाती है। यानि यह डीऑक्सीडेंट की तरह काम करता है। चूंकि यह क्षारीय जल होता है, इसलिए ऐसिडिटी की शिकायत (अम्लता) कम हो जाती है। अतः निथार और छानकर घर में ऐसा ही पानी पीने का इंतजाम करना चाहिए।

इ) अहिंसक जीवन शैली और पर्यावरण संरक्षण :

i) उपरोक्त आभामंडलीय फोटोग्राफी से यह पक्का सिद्ध हो गया है कि पानी सचित्त/अचित्त रूप में एक जलकायिक जीव है। आज हम इस स्थिति में हैं कि यंत्रों द्वारा यह पहचान सकते हैं कि कोई पानी सचित्त अवस्था में हैं या निर्जीव अवस्था में है। अतः विवेकशील मनुष्य का यह कर्तव्य बनता है कि उसके साथ सम्मान की दृष्टि रखें।

हमारे अहिंसक जीवन दर्शन **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** का तकाजा है कि इसके जीवन की रक्षा करने का भाव रखकर, हम पर्यावरण संरक्षण में अपना सहयोग करें। जीव रक्षा का सीधा-साधा मतलब है कि हम अपने दैनिक जीवन में करुणा पूर्वक, पानी का दुरुपयोग नहीं होने दें। हर समय जागरूक रहकर इसके मितव्ययी बने। अपने विवेक द्वारा इसका अपव्यय बिल्कुल न होने दें। इसके अल्पीकरण के संकल्पों पर विशेष जागरूकता अभियान चलायें।

ii) मितव्ययता :

जैसे घी का उपयोग करते वक्त यह ध्यान रखा जाता है कि एक बूंद भी व्यर्थ नीचे नहीं गिरे या फालतू बहकर न चला जाय, वैसी ही मानसिकता जल की बूंद के प्रति भी समाज में विकसित की जाये। खासकर स्कूली बच्चों व कृषि तथा उद्योग में लगे व्यक्तियों को इसका महत्व विशेष प्रशिक्षण द्वारा समझाया जाये।

iii) कुछ साधारण गुर :

1. पानी से धोते वक्त (शरीर, बर्तन व वस्तुओं) बहते पानी के बजाय मग या हाथ के चुल्लु का उपयोग करें तथा प्रत्येक बार पानी की मात्रा कम से कम लें।

2. बहता पानी (जैसे सिंचाई आदि) नल या पाइप का व्यास (छोटे छेद वाला) कम से कम रखें तथा नल को भी कम से कम खोलें। फव्वारे या ड्रिप विधियों से खेती में बहुत पानी बचाया जा सकता है।

3. जल संरक्षण में पुनरूपयोग व्यवस्था का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। ज्यादा से ज्यादा लोगों को इसका उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इससे पर्यावरण संरक्षण में सहायता तो मिलेगी ही साथ ही साथ में निकट भविष्य में आनेवाली जल समस्या से भी निजात मिल सकेगी।

जल है तो जीवन है। हमें गंभीरता से सोचना है कि अपकायिक जीवों के प्रति हम समाज में किस प्रकार करुणा का भाव पैदा कर सकें। नहीं तो हमारी उदासीनता या लापरवाही से कहीं आने वाली पीढ़ी ही पानी की कमी के कारण पृथ्वी से विलुप्त होने के कगार पर न आ जाये।

फ) सारांश

i) अभी तक की जानकारी या परिकल्पना के अनुसार –

1. जल जीव की संरचना एक जालीनुमा सूक्ष्म बेलनाकार नेनो ट्यूब के सदृश है।

2. इसका हाइड्रोजन जोड़ / बंध, स्थिर-वैद्युत शक्ति से बनता है तथा वह तापक्रम और दबाव से प्रभावित होता है।

3. अपनी जालीनुमा संरचना के छिद्रों के अवरुद्ध होने से पानी अचित्त बन जाता है।

4. ये जीव मुख्यतः **a**) तापक्रम **b**) दबाव **c**) परकाय कोलोइड बनाने वाले ठोस पदार्थों से और **d**) ऑक्सीजन मूलकों से प्रभावित होते हैं।

ii) पानी को अचित्त बनाने की विधि में क्या किया जाता है ?

a) मूलकों को व ऑक्सीजन को हटाना **b**) पानी के शरीर / योनि की संरचना को तोड़ना **c**) शरीर के छिद्रों को बंद करना।

iii) अचित्त पानी के प्रमुख प्रभाव क्या है :–

1. अचित्त पानी (मूलकों की अनुपस्थिति) से भावनाओं का निग्रह होता है। यानि इंद्रियों को वश में करने में आसानी होती है।

2. अन्य प्रभावों का जैसे चयापचय आदि का भी परीक्षण और शोध करना आसान हो सकेगा (अचित्त और सचित्त दोनों पानी को)।

3. पानी के जीवित रूप में होने की इस वैज्ञानिक खोज से यह जरूरी बनता है कि हम इन जीवों की रक्षा के लिए अधिक सजग बनें। अहिंसक समाज अपने उपयोग में पानी की मात्रा का निश्चित संकल्प के साथ अल्पीकरण करे तथा किसी भी प्रकार के दुरूपयोग को हटाने का प्रयास करें।

4. जैन दर्शन के अनुसार इससे हमारा पर्यावरण तो बचेगा ही साथ-साथ में हमारे कर्मों की बड़ी निर्जरा भी होगी। यह अपनी आत्मा को, आत्मा द्वारा, दिया जाने वाला एक बड़ा तोहफा होगा।

iv) आगे की शोध के लिए कुछ विषय :-

1. ऑक्सीजन मूलकों की ऊर्जा, गति और सक्रियता का मापदंड

2. सचित्त पानी का मानव कोशिकाओं पर प्रयोग और मूलकों का प्रभाव अचित्त पानी की उपयोगिता।

3. सचित्त पानी की कोशिकाओं की क्षमता पर शोध तथा उनके आभामण्डल पर शोध।

4. जल आधारित होम्यो दवाओं का अध्ययन और जल जीवन के आधार पर उनके सिद्धांतों को व्यवस्थित रूप देना।

5. कास्मिक ऊर्जा का योगदान तथा होम्यो के संदर्भ में पानी की कार्य पद्धति पर शोध।

आभार -

श्रुतधर पंडित रत्न श्री प्रकाशमुनिजी द्वारा यथोचित जानकारी व संबंधित तथ्यों की प्रभावी व्याख्या और सरल शंका समाधान मिलता रहा। जिससे विषय पर तुलनात्मक समझ विकसित होती गई।

कई अन्य 'विद्वान आचार्य व साधुओं से विचार विमर्श द्वारा मार्गदर्शन मिलता रहा। जिनमें मुख्यतः आचार्य श्री हीरामुनिजी म.सा. के शिष्य तत्त्वज्ञ श्री प्रमोदमुनिजी म.सा., श्रुतधर श्री प्रकाशमुनिजी के शिष्य आगमज्ञ श्री लक्ष्मीचन्द म.सा. आचार्य श्री महाप्रज्ञजी व वैज्ञानिक संत पू. महेन्द्रमुनिजी म.सा., आचार्य श्री कनकनदीजी म.सा., आचार्य श्री नंदीघोष विजय जी म.सा. अध्यात्मयोगी श्री महेन्द्रसागरजी म.सा. आदि का पूर्ण सहयोग व उत्साहवर्धन रहा। इसके अलावा डॉ. कुलवंत सिंह, डॉ. हरेश्याम द्वारा कई उपयोगी जानकारियाँ प्राप्त हुई।

प्राप्तः 29.03.11

वर्ष - 24, अंक - 1, जनवरी - मार्च - 2012, 31-38

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

राजगृह दुर्ग का जैन पुरातत्व : एक सर्वेक्षण

■ उमेश कुमार सिंह *

सारांश

राजगृह (राजगिरि) की पंच पहाड़ियों की प्राकृतिक स्थिति ने इसे दुर्ग का रूप दे दिया है। इस प्राकृतिक दुर्ग की पंच पहाड़ियों पर स्थित जैन पुरातात्विक अवशेषों, जिन प्रतिमाओं का विस्तृत सर्वेक्षण प्रस्तुत आलेख में अंकित है।

राजगृह (नालन्दा जिलान्तर्गत, बिहार) की स्थिति भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। यह स्थल अनेक पहाड़ियों से घिरा होने के कारण अत्यधिक सुरक्षित था। जैन साहित्य में राजगृह की पांच प्रमुख पहाड़ियों के नाम वैभारगिरि, विपुलगिरि (विपुल पर्वत), रत्नगिरि, उदयगिरि और सोनगिरि मिलते हैं।[1] इन पहाड़ियों के ये नाम आज भी प्रचलित हैं।

शिल्प ग्रंथों में 'दुर्ग' की व्याख्या करते हुए कहा गया है - **'दुःखेन गच्छत्यत्र'** अर्थात जहां दुःखपूर्वक पहुँचा जाए अथवा जहाँ पहुँचने में कठिनाई हो, उसे 'दुर्ग' कहते हैं।[2] इस प्रकार स्थिति एवं निर्माण की दृष्टि से राजगिरि दुर्ग शास्त्र सम्मत है।

जैन अभिलेखों में वैभारगिरि को वैभार या व्यवहार कहकर संबोधित किया गया है।[3] यहां दिगम्बर साधु रहते हैं और लगातार कठिन तपस्या करते रहते हैं। वे सूर्य के उदय होने से लेकर अस्त होने तक उसे देखते हुए उसके साथ घूमते रहते हैं । यह जैन ग्रंथ में वर्णित वैभारगिरि का ही वर्णन प्रतीत होता है, जिसे ह्वेनसांग ने विपुल नाम से प्रस्तुत किया है।[4] इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि महाभारत में वैभारगिरि (वैहार) को 'विपुल शैल' कहा गया है।[5] यहाँ पर एक प्राचीन स्तूप वर्तमान में भी स्थित है। इसके अतिरिक्त (संभवतः गुप्तकालीन) प्राचीन जैन प्रतिमाओं से युक्त एक जैन मंदिर भी है।

जैन परम्परा के अनुसार राजगृह को घेरने वाली सात पहाड़ियां थी। उनकी स्थिति इस प्रकार बताई गई है। यदि कोई व्यक्ति उत्तर से राजगृह में प्रवेश करे तो दाहिनी ओर स्थित पहाड़ी वैभारगिरि है, इसकी बांयी ओर विपुलगिरि, इसके समकोण पर वैभारगिरि के समानान्तर दक्षिण की ओर नाले की तरह वाली पहाड़ी रत्नगिरि है। रत्नगिरि का पूर्वी प्रसार चठागिरि और चठागिरि के बाद स्थित पहाड़ी शैलगिरि है। चठागिरि के सामने उदयगिरि और रत्नगिरि के दक्षिण और उदयगिरि के पश्चिम में स्थित पहाड़ी सोमगिरि है।[6] जैन परम्परा के अनुसार महावीर का निवास स्थल विपुलगिरि के गुणशीलक (गुणशील) चैत्य में था।[7] उन्होंने अपने चौदह वर्षावास राजगृह में व्यतीत किये थे।[8] दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर ने अपना प्रथम धर्मोपदेश विपुलगिरि पर दिया था। वे अनेक बार इस पहाड़ी पर आये और अपना धर्मोपदेश दिया।[9]

प्राचीनकाल में राजगृह (राजगीर) या गिरिव्रज मगध महाजनपद की राजधानी थी। राजगृह का शाब्दिक अर्थ है 'राजा का निवासगृह।' संभवतः यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि यहाँ राजा और उसके

* प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, उदय प्रताप स्वायत्तशासी कॉलेज, वाराणसी।

परिवार के लोग रहते थे। राजगृह का प्रारंभिक इतिहास महाभारत के सभापर्व में मिलता है। उस समय इसे पहाड़ियों से घिरा होने के कारण 'गिरिव्रज' कहा जाता था।

राजगृह में बहुत से प्राचीन स्मारक तथा पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। इनमें से कुछ स्मारक ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं तथा कुछ का धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्व है। इनमें से कुछ ऐसे भी हैं, जिनका संबंध जैन धर्म से रहा है।

पांच पहाड़ियों से घिरे इस प्राकृतिक दुर्ग में केवल दो प्रवेश मार्ग है - एक उत्तर में तथा दूसरा दक्षिण में। पुराने नगर की पाषाण रक्षा प्राचीर राजगृह के प्राचीनतम अवशेषों में से एक हैं। पांचों पर्वतों के ऊपर बनी हुई इस रक्षा प्राचीर श्रृंखला की परिधि प्रायः 40-48 कि.मी. है।[10] पुरातत्ववेत्ताओं ने इस रक्षा प्राचीर का नाम 'साइक्लोपीडियन वाल' रखा है। इस रक्षा प्राचीर का निर्माण 3 फीट से 5 फीट लम्बे पत्थरों को एक दूसरे से फंसा कर किया गया था और बीच के छेदों में छोटे-छोटे पत्थरों को भरा गया था। वर्तमान में इन पाषाणों के बड़े-बड़े ढ़ेर मिलते हैं।

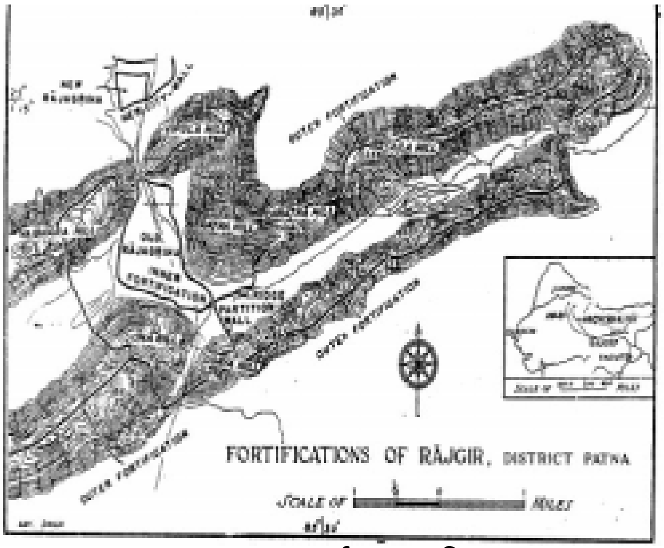

राजगृह दुर्ग का मानचित्र

प्राचीन रक्षा प्राचीर के सर्वाधिक अवशेष ऊँचे बाणगंगा दर्रे के पूर्व एवं पश्चिम में मिले हैं। पांचों पर्वतों पर यह प्राचीर लगभग 11-12 फीट की ऊँचाई तक उठी थी।[11] यद्यपि अब इन दीवारों के अवशेष 7-8 फीट से अधिक ऊँचे नहीं हैं। पुरातत्ववेत्ताओं का अनुमान है कि इस दीवार के ऊपर एक और दीवार छोटे पत्थरों अथवा लकड़ी से बनायी गई होगी, जो वर्तमान में नष्ट हो चुकी थी। रक्षा प्राचीर की मोटाई प्रत्येक पहाड़ियों पर अलग-अलग है। सामान्यतः इस रक्षा प्राचीर की मोटाई 17 फीट है। इस रक्षा प्राचीर को और सुदृढ़ करने के लिए अंदर और बाहर से असमान दूरियों पर 16 अट्टालिकाओं (बुर्ज) का निर्माण किया गया था। इनकी योजना आयताकार है और निर्माण शैली प्राचीर के सदृश है। यह 47 से 60 फीट लम्बे और 34 से 40 फीट तक चौड़े हैं।[12]

राजगृह दुर्ग की रक्षा प्राचीर

इनके ऊपर भी सम्भवतः लकड़ी का एक और बुर्ज रहा होगा जो अब नष्ट हो चुका है। ऊपर चढ़ने के लिए अंदर की ओर से ढलुआ मार्ग बने थे। रक्षा प्राचीर में सुरक्षा / सैनिक कक्षों का भी निर्माण किया गया था।[13] रक्षा प्राचीर में एक प्रवेशद्वार (गोपुर) के अवशेष उत्तरी दिशा में मिले हैं। साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अन्य प्रवेशद्वार भी रहे होंगे लेकिन सम्प्रति प्रवेशद्वारों के अवशेष नष्ट हो चुके हैं।

पांच पहाड़ियों से आवृत्त राजगृह दुर्ग के भीतर जाने पर जो सर्वप्रथम स्मारक दिखाई देता है, वह मनियार मठ के नाम से प्रसिद्ध है। इसका निर्माण कब हुआ और इसके निर्माता कौन थे, इतिहासकारों में इस विषय पर मतभेद हैं। कनिंघम के अनुसार यह एक जैन स्मारक था और जैनियों ने इसका निर्माण करवाया था। उन्होंने इस मत के पक्ष में दो तर्क दिये हैं। (1) इस स्मारक का आकार जैन मंदिरों से मिलता जुलता था और (2) यहां उत्खनन में स्मारक के भीतर से जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति प्राप्त हुई हैं। कनिंघम के अनुसार मनियार मठ मूलतः एक जैन मंदिर था जो एक 20 फीट ऊँचे टीले पर स्थित था। इसकी खोज उन्होंने सर्वप्रथम 1861-1862 ई. में की थी और टीले के भीतर किसी स्तूप के होने का अनुमान किया था। स्तूप के भीतर से सम्भावित अस्थि अवशेषों को प्राप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने परीक्षण उत्खनन करवाया था। उन्हें यह ज्ञात हुआ कि टीले के भीतर 3 मी. व्यास के कुएं के आकार की दीवार है जिसमें मलबा भरा हुआ है। टीले पर बने मंदिर को नष्ट किये बिना उन्हें और उत्खनन करवाने पर गहराई से कुछ मूर्तियां मिली हैं। एक मूर्ति में बुद्ध की माता माया देवी को लेटे हुए दिखाया गया था और मूर्ति के ऊपरी भाग में बुद्ध को अंकित किया गया था। दूसरी मूर्ति में नग्न पुरुष की स्थानक मूर्ति थी, जिसके शीर्ष पर सप्तमुखी सर्प का फण अंकित था। यह संभवतः पार्श्वनाथ की मूर्ति थी। तीसरी अन्य मूर्ति बहुत खंडित अवस्था में मिली। अतः उसकी पहचान सम्भव नहीं हो सकी।[14]

राजगृह की दो पहाड़ियों का संबंध भगवान महावीर से स्थापित होने के प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रमाण उपलब्ध हैं। प्राचीन राजगृह या गिरिव्रज के पश्चिमोत्तर में स्थित वैभारगिरि का संबंध जैन परम्परा में महावीर से स्थापित किया जाता है। विविध तीर्थकल्प में इसे एक पवित्र पहाड़ी बतलाया गया है, जिसमें गरम और शीतल जल कुण्डों का निर्माण था। इस पहाड़ी पर कुछ अंधेरी गुफाएं भी थी

। जैनों ने इस पर निर्मित चैत्यों (मंदिरों) में तीर्थंकरों की मूर्तियां स्थापित की थी।[15] वैभारपर्वत पर एक ध्वस्त प्राचीन मंदिर की गुप्त और गुप्तोत्तर कालीन कुछ जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां प्राप्त हुई है, जिनमें ऋषभनाथ, संभवनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की प्रतिमाएं उल्लेखनीय हैं। ये मूर्तियां इस पहाड़ी के प्राचीन जैन संबंधों को व्यक्त करती हैं। विपुल पर्वत का उल्लेख करने वाला प्राचीनतम जैन अभिलेख कुषाण काल का प्राप्त हुआ है। इसी पर्वत पर 'गुणशील' चैत्य स्थित था, जहाँ महावीर ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया था।[16]

राजगृह में जैन धर्म और कला की परम्परा गुप्त और गुप्तोत्तर काल तक बनी रहीं। यहाँ के वैभार पर्वत पर एक ध्वस्त मंदिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं जिसमें अनेक जैन प्रतिमाएं भी उपलब्ध हैं। इस मंदिर का मुख्य कक्ष पूर्वाभिमुख है। मंदिर की दीवारों पर अनेक रथिकाएं बनी हैं। इन रथिकाओं में मूर्तियां स्थापित थी, जिनमें से अब अधिकांश मूर्तियां लुप्त हो गई हैं, परंतु कुछ मूर्तियां अभी शेष हैं। एक रथिका में पद्मासन में बैठी हुई ध्यान मुद्रा में एक प्रतिमा है जिसकी चौकी के दोनों छोरों पर सिंह प्रदर्शित हैं तथा केन्द्र में धर्मचक्र बना है। इस मूर्ति के बायीं ओर की रथिका में ऋषभनाथ को बैठे हुए दिखलाया गया है। इसकी पाद पीठ पर दो वृष और एक चक्र प्रदर्शित है। साथ में लगभग आठवीं शताब्दी ई. का एक अभिलेख भी है जिसमें आचार्य बसंतनंदी का उल्लेख किया गया है। एक दूसरी भग्न प्रतिमा में केवल पद्मासन में पैर और वृष का चित्रण दिखाई पड़ता है। साथ ही 'देवधर्मो' लेख अंकित है। कुछ अन्य रथिकाओं में पार्श्वनाथ, महावीर और संभवनाथ की प्रतिमाएं दर्शनीय हैं। एक प्रतिमा काले पत्थर से निर्मित है, जिस पर गुप्त लिपि में 'महाराजाधिराज श्री चन्द्र' लिखा हुआ है। आर.पी. चंदा ने इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय माना है। यह अभिलेख युक्त प्रतिमा पद्मासन में स्थित है। उसके आसन के नीचे मध्य में चक्र बना है। चक्र के बीच में एक पुरुष खड़ा है, जिसका बायाँ हाथ अभयमुद्रा में है और दायाँ खंडित है। चक्र के दोनों ओर शंख हैं तथा दोनों पार्श्वों में एक जिन प्रतिमा पद्मासन में बैठी हैं। आसन के दोनों, छोरों पर सिंहों का अंकन दर्शनीय है। मुख्य प्रतिमा का सिर खंडित है। नीचे शेष के अंकन के आधार पर इसकी पहचान नेमिनाथ से की गई है। आर.पी. चंदा ने चक्र के भीतर खड़ी आकृति को राजकुमार अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) होने का अनुमान किया है किंतु उमाकांत शाह के अनुसार यह चक्र पुरुष है। आर.पी. चंदा ने इस अभिलिखित प्रतिमा के आधार पर उपरोक्त जैन प्रतिमाओं को गुप्तकालीन होने का अनुमान किया है। चक्रपुरुष के कुन्तलकेश तथा उसके द्वारा धारण की गई एकावली आदि विशेषताएं नेमिनाथ प्रतिमा के निःसंदेह गुप्तकालीन होने का संकेत देती हैं। संभव है कुछ जैन प्रतिमाएं भी गुप्तकालीन हो।[7] वैभवगिरि के दक्षिण अंचल की सोन भंडार गुफा के प्रवेश द्वार के अंदर जाने पर लेख मिलता है जो इस प्रकार है-

निर्वाणलाभाय तपस्वियोग्ये शुभे ग्रहे अर्हतप्रतिमा प्रतिष्ठे।
आचार्यरत्नं मुनिवैरदेवः विमुक्त ये अकारय दूर्ध्व तेजः।।

अर्थात् अत्यन्त तेजस्वी आचार्य प्रवर वैरदैव ने निर्वाण प्राप्ति के लिए तपस्वियों के योग्य दो गुफाओं का निर्माण कराया।[18]

उपरोक्त शिलालेख से स्पष्ट होता है कि जैनियों के आचार्य भैरवदेव या वैरदैव ने साधना करने के लिए इन दो गुफाओं का निर्माण करवाया था और इनमें जैन अर्हंतों की मूर्तियां स्थापित करायी थी।

इस शिलालेख की लिपि तीसरी – चौथी शताब्दी ई. की प्रतीत होती है। इस बड़ी गुफा में काले

पत्थर की एक मूर्ति मिली है जो अब चौमुखी मूर्ति के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि मूर्ति के चारों फलकों पर एक-एक तीर्थंकर की नग्न आकृति उत्कीर्ण है। प्रत्येक तीर्थंकर की मूर्ति के नीचे क्रमशः वृषभ, गज, अश्व और कपि पशुओं की आकृतियां निर्मित है, जो यह प्रमाणित करती है कि ये चार तीर्थंकर मूर्तियां प्रथम चार जैन तीर्थंकरों ऋषभदेव, अजितनाथ, सम्भवनाथ और अभिनन्दन की हैं। प्रत्येक तीर्थंकर की मूर्ति के नीचे दो पशु आकृतियों के बीच में धर्मचक्र बना है। इस मूर्ति और अभिलेख से यह प्रमाणित होता है कि सोनभंडार गुफा तीसरी-चौथी शताब्दी ई. में जैन आचार्यों के आवास हेतु बनवाई गयी होगी।

वैभारगिरि : महावीर मूर्ति

दूसरी गुफा पहली गुफा के पूर्व में है। यह भी प्रथम गुफा के समकालीन रही होगी। इसका फर्श थोड़ा नीचा है। यह गुफा साढ़े बाइस फुट लंबी और सत्रह फुट चौड़ी है। इस गुफा की छत पूर्णरूपेण नष्ट हो चुकी है। सम्भवतः इस गुफा के ऊपर जाने के लिए दायी और पहाड़ी में सीढ़ियां कटी हुई है।[19] इस गुफा की दीवारों पर भी जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां बनी है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन गुफाओं के सामने बरामदे भी थे। गुफाओं की दीवार के ऊपर एक ओर से दूसरी ओर तक छिद्र बने हैं। इनमें संभवतः लकड़ी की धन्नियां लगाई गई होगी। इस प्रकार सोनभंडार गुफाएं केवल पहाड़ को काटकर ही नहीं बनाई गई वरन इसमें धन्नियों का प्रयोग करके संरचनात्मक निर्माण शैली का प्रयोग भी हुआ था।

अधिकांश इतिहासकारों ने सोनभंडार गुफाओं को पूर्व गुप्तकालीन और जैन धर्म से संबंधित मानते है। परंतु यहां यह उल्लेखनीय है कि पश्चिमी गुफा का प्रवेश द्वार बराबर की पहाड़ी पर निर्मित मौर्यकालीन लोमश ऋषि के समान है तथा इसकी भी द्वार शाखाएं भीतर की ओर झुकाव लिए हुए ढालू या तिरछी बनाई गई है और आधार की अपेक्षा प्रवेश द्वार के ऊपर की चौड़ाई लगभग 15 सें.मी. से कम है। द्वार शाखा की ऊँचाई लगभग 2 मी. है। गुफा की छत 3.45 मी. ऊँची है। जिसका ढोलाकार भाग लगभग डेढ़ मी. ऊँचा है। डी.आर. पाटिल के अनुसार इस गुफा की वास्तुगत विशेषताएं बराबर की गुफा में उपलब्ध है, जो राजगृह से लगभग 30 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। इस प्रकार लोमश ऋषि गुफा से सोनभण्डार गुफा की तुलना करने पर ये दोनों गुफाएं समकालीन प्रतीत होती हैं और इस आधार पर इस गुफा की तिथि मौर्य काल या इससे पूर्व निर्धारित की जा सकती है।

वैभारगिरि : तीर्थंकर की मूर्ति

गुप्तयुग से लेकर बारहवीं शती ई. तक राजगृह (वैभार पहाड़ी और सोनभण्डार गुफा) में जैन मूर्तियों का निर्माण निरन्तर होता रहा। मध्य युग में जैन धर्म को किसी भी प्रकार का शासकीय समर्थन नहीं मिला जिसका प्रमुख कारण पालों का प्रबल बौद्ध धर्मावलम्बी होना था। इसी कारण इस क्षेत्र में राजगृह के अतिरिक्त कोई दूसरा विशिष्ट एवं लम्बे इतिहास वाला कला केन्द्र स्थापित नहीं हुआ। जिनों की जन्मस्थली और भ्रमण स्थली होने के कारण राजगृह पवित्र माना गया है। पाटलिपुत्र (पटना) के समीप राजगृह की स्थिति भी व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण थी।

गुप्तकाल में जैन मूर्तियों की प्राप्ति का क्षेत्र विस्तृत हो गया। कुषाणकालीन कलावशेष जहां केवल मथुरा एवं चौसा से मिले हैं वहीं गुप्तकाल की जैन मूर्तियों मथुरा और चौसा के अतिरिक्त राजगृह, विदिशा, उदयगिरि, अकोटा, कहौम और वाराणसी में मिली हैं। राजगृह के वैभार पर्वत से ध्वस्त मंदिर की दीवारों में लगी कुल चार जिन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों में तीन तीर्थंकरों की खड़ी मूर्तियां बलुए पत्थर से निर्मित हैं। बालू पर पत्थर से बनी हुई मूर्तियों के स्कन्द भारी हैं और इनका मूर्तन भली प्रकार से नहीं किया गया है। काले पत्थर से निर्मित्त मूर्ति पद्मासन मुद्रा में बैठी है। आसन

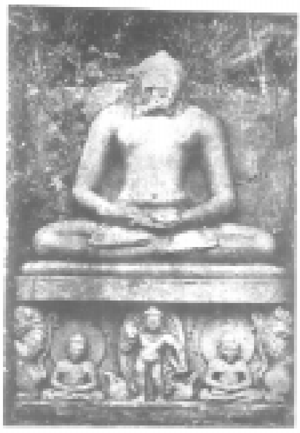

पद्मासन मुद्रा में नेमिनाथ

के नीचे मध्य में चक्र है और चक्र के बीच में एक पुरुष खड़ा है जिसका बायां हाथ अभयमुद्रा में है। दायें हाथ के टूट जाने के कारण उसकी स्थिति स्पष्ट नहीं है। चक्र के दोनों ओर शंख है। इस चक्र पुरुष के दोनों ओर एक-एक पद्मासन मुद्रा में बैठे जिन प्रतिमाएं हैं। आसन के दोनों छोरों पर खड़े सीटों का अंकन है। शंख के अंकन के आधार पर इस प्रतिमा की पहचान नेमिनाथ या अरिष्टनेमि से की गई है क्योंकि शंख नेमिनाथ का लांछन है। चक्र के बीच में खड़ी आकृति को आर.पी. चंदा ने राजकुमार अरिष्टनेमि या नेमिनाथ माना है किन्तु उमाकांत शाह इसकी पहचान 'चक्रपुरुष' से करते हैं।[21] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिन लांछन शंख के साथ प्रदर्शित इसे प्राचीनतम मूर्ति कहा जा सकता है।[22] इस प्रतिमा पर गुप्त लिपि में 'महराजाधिराज श्रीचन्द्र' लिखा हुआ है। यह चन्द्रगुप्त द्वितीय प्रतीत होता है। इस आधार पर इस प्रतिमा की तिथि गुप्तकालीन निर्धारित की गई है। अभिलेख के अतिरिक्त इस प्रतिमा के साथ अंकित चक्रपुरुष के कुन्तल केश एकावली आदि चिन्ह भी इसके गुप्तकालीन होने के संकेत करते हैं। इस मूर्ति के अतिरिक्त तीन अन्य मूर्तियों में जिन कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्वस्त्र खड़े हैं। इनकी तिथि भी विद्वानों ने गुप्तकाल निर्धारित की है।

राजगृह के मनियार मठ के उत्खनन से अनेक जैन मूर्तियां प्राप्त हुई थी। इनमें से कुछ नालन्दा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। यहाँ आधुनिक जैन मंदिर के एक कमरे में सात खंडित मूर्तियां रखी हैं, जो मध्यकालीन प्रतीत होता है। ये मूर्तियां ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर एवं जैन युगलों की हैं। वैभार पहाड़ी की सोनभंडार गुफाओं पर भी नवीं-दसवीं शताब्दी ई. की कुछ जिन मूर्तियां मिली थी जिनमें एक चौमुखी प्रतिमा नालंदा संग्रहालय में है।

उदयगिरि पहाड़ी के आधुनिक जैन मंदिरों में लगभग नवीं-दसवीं शताब्दी ई. की एक पार्श्वनाथ की मूर्ति सुरक्षित है।

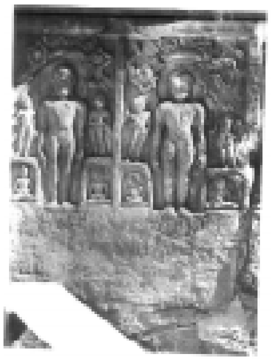

सोनभण्डार की पूर्वी गुफा की जैन मूर्तियां

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजगृह के स्मारकों का निर्माण छठी-पाँचवी शताब्दी ई.पू. के पहले से ही प्रारंभ हो चुका था। यहाँ पर सुरक्षा प्राचीरों के अतिरिक्त अनेक आवासीय भवनों, मंदिरों, गुफाओं, कन्दराओं, विहारों, जलाशयों और वनों का निर्माण किया गया। इनका ऐतिहासिक एवं धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्व है। गुप्तकाल के पश्चात् राजगृह में जैन धर्म और कला से संबंधित अन्य साक्ष्यों का अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके बाद एक बड़े अंतराल के बाद ही यहां आधुनिक काल में प्रायः सभी पहाड़ियों पर जैन मंदिरों का निर्माण कर उनमें प्राचीन एवं नवीन मूर्तियां स्थापित की गई हैं। इनमें से कुछ को सम्प्रति में भी देखा जा सकता है।

संदर्भ -

1. ला. बिमल चरण, 1984, Historical Geography of Ancient India, ओरियंटल, रीप्रिन्टनईदिल्ली।
   ला. बिमल चरण, 1938, Rajgrah in Ancient Literatures, मेम्यार ऑफ दि आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, दिल्ली, संख्या 58, पृ. 1-7, 28-33।
2. सिंह उमेश कुमार, 2009, प्राचीन भारतीय दुर्ग संरचना, कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 1-2।
3. कनिंघम, एलेक्जेंडर, 1963. The Ancient Geography of India, वाराणसी, इण्डोलॉजिकल बुक हाऊस, पृ. 530।
4. वार्टस ओन (?) Yuan Chwang Travels in India, लंदन, भाग 2 पृ. 159-160।
   बील.एस. 1906, Buddhist Record of World, खंड 1, 2, केगनपाल ट्रेंच ट्रूवनर्स कंपनी, लंदन।
5. महाभारत, सभापर्व, अध्याय 2, श्लोक 2, गीता प्रेस, गोरखपुर।
6. ला.बी.सी. 1938, तत्रैव, पृ. 3
7. विविधतीर्थ कल्प, पृ. 22।
8. कल्पसूत्र, अनु. के.सी. ललवानी, 1979, दिल्ली, पृ. 69।
9. जैन बलभद्र 1975, भारत में दिगम्बर जैन तीर्थ, द्वितीय भाग, बम्बई, पृ. 82-83।
10. घोष, मलानन्द, 1951, राजगीर 1950 Ancient India, संख्या 7, पृ. 36-38, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग, नईदिल्ली।
    कुरैशी, मुहम्मद हमीद 1956 (संशोधित ए.घोष) राजगीर, मैनेजर ऑफ पब्लिकेशंस, दिल्ली पृ. 8-16।
11. घोष, ए. 1951, तत्रैव, पृ. 10-22।
    चक्रवर्ती , दिलीप कुमार 1976, राजगृह, World Archaeology, संख्या 7, पृ. 261-268।
12. घोष, ए. 1951, तत्रैव, पृ. 33।
13. घोष, ए. 1951, तत्रैव, पृ. 34-35।
14. कनिंघम, ए. 1963, तत्रैव, पृ. 530।
15. जैन बलभद्र 1975, तत्रैव, पृ. 100। विविध तीर्थ, पृ. 22।
16. पाटिल, डी.आर. 1963, The Antiquarians Remains in Bihar, पटना : डाइरेक्ट्रेट ऑफ म्यूजियमस, पृ. 450-452।
17. चंदा, राम प्रसाद 1925-26, Jain Remains at Rajgiri, आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया - एनुअल रिपोर्ट, दिल्ली, पृ. 121-127।
18. जैन बलभद्र 1975, तत्रैव, पृ. 100।
19. कनिंघम, ए. (1862-1865), Archaeological Survey of India Report, खंड 1, वाराणसी, पृ. 35।
20. पाटिल, डी.आर. 1963, तत्रैव, पृ. 452-452।
21. चंदा, आर.पी., 1925-1926, तत्रैव, पृ. 125-127।
22. तिवारी, मारूति नन्दन प्रसाद 1978, जैन प्रतिमा विज्ञान, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 50।
    घोष, ए. (सम्पा.) 1974-75, Jaina Art & Architecture, तीन खंड, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
    तिवारी एम.एन.पी. (?) जैन तीर्थकरों की द्वितीर्थी मूर्तियों का प्रतिमा निरूपण, जैन सिद्धांत-भास्कर, आरा, खंड 30, अंक 1, पृ. 33-40।

प्राप्तः 25.07.11

वर्ष - 24, अंक - 1, जनवरी - मार्च - 2012, 39-43

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

तीर्थंकर नेमिनाथ के पार्श्व में कृष्ण एवं बलराम का प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूप

■ आनन्द कुमार गौतम *

सारांश

देश में विकीर्ण कृष्ण एवं बलराम सहित नेमिनाथ की मूर्तियों का विवरण एवं विश्लेषण प्रस्तुत आलेख में दिया गया ।

चौबीस तीर्थंकरों की धारणा ही जैन धर्म का मूल आधार है । कर्म व वासना पर विजय प्राप्त करने के कारण इन्हें 'जिन' कहा गया है जिसका अर्थ विजेता होता है । तीर्थ का 'कर्ता' या निर्माता होने के कारण इन्हें तीर्थंकर भी कहा जाता है ।

22वें तीर्थंकर नेमिनाथ का जन्म हरिवंश के काश्यपगोत्री शिखामणि राजा समुद्रविजय के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम शिवदेवी था जिन्होंने सोलह शुभ स्वप्न व मुख में प्रवेश करता उत्तम हाथी देखने व गर्भ में तीर्थंकर के अवतीर्ण होने के विषय में राजा द्वारा जानने के बाद श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र में तीन ज्ञान के धारक जिन बालक को जन्म दिया । उत्तरपुराण में वर्णित है कि जन्म के पश्चात् इनको ऐरावत गज पर सुमेरू पर्वत पर ले जाया गया और सुवर्णमय एक हजार आठ कलशों से भरे हुए क्षीरसागर के जल से अभिषेक कर 'नेमि' नाम से संबोधित किया गया ।[1]

श्वेताम्बर परम्परा में सन्दर्भित है कि 'गर्भकाल में महाराज सभी प्रकार के अरिष्टों से बचे रहे तथा माता ने अरिष्ट रत्ननाम चक्रन्नेमि का दर्शन किया इसीलिए इनका नाम 'अरिष्टनेमि' पड़ा ।[2] जैन परम्परा में नेमिनाथ का बलराम और कृष्ण के चचेरे भाई होने के कारण विशेष महत्त्व रहा है । बलराम और कृष्ण 63 शलाकापुरुषों की सूची में क्रमशः 9वें बलभद्र और 9वें नारायण के रूप में निरूपित हैं । इसी कारण जैन शिल्पकारों ने जैन साहित्यिक परम्परानुसार तीर्थंकर नेमिनाथ के पार्श्वदेव के रूप में सहायक मूर्तियों के अंतर्गत बाँयी तरफ कृष्ण एवं दाँयी तरफ बलराम को निरूपित करते हुए उनका प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूप निर्धारित किया है ।

नेमिनाथ की मूर्तियां पहली शती ई. से ही बनने लगी थी जिसके साक्ष्य विभिन्न संग्रहालयों में संग्रहीत हैं । इनमें मथुरा संग्रहालय में संग्रहीत एक मूर्ति में इनका लांछन शंख है जो कृष्ण से उनके सम्बन्ध का सूचक है । नेमि के यक्ष-यक्षी गोमेध एवं अम्बिका हैं । शिल्पकला में यक्ष के रूप में कुबेर का भी अंकन हुआ है । दिगम्बर स्थलों पर कुषाणकाल से ही नेमिनाथ के पार्श्वों में हलधर बलराम और शंख चक्रधारी कृष्ण का रूपायन हुआ है । जिसके परवर्ती उदाहरण अधोलिखित हैं ।[3]

मथुरा के कंकाली टीला से नेमिनाथ की एक प्राचीन प्रस्तर प्रतिमा प्राप्त हुई है जो वर्तमान समय में मथुरा संग्रहालय में संग्रहीत है । (चित्र संख्या 1) इस प्रतिमा में नेमिनाथ के पार्श्व में कृष्ण व बलराम सहचर के रूप में आमूर्तित हैं । मथुरा से लगभग चौथी शती ई. की एक तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा प्राप्त है जो लखनऊ संग्रहालय में संग्रहीत है । इनके पार्श्व में चतुर्भुज बलराम व चतुर्भुज कृष्ण का अंकन है । बलराम के सिर पर पांच सर्पफण बने हैं , साथ ही इनकी तीन भुजाओं में मूसल,

* शोध छात्र-कला एवं इतिहास विभाग, काशी हिन्दू वि.वि. वाराणसी, सम्पर्क : एन-10/72-ई-12, न्यू कालोनी, ककरमत्ता, डी.एल.डब्ल्यू. वाराणसी-221004

चषक तथा हल और एक भुजा सर्पफणों के पास है। कृष्ण की तीन अवशिष्ट भुजाओं में गदा, शंख व फल है।[4]

प्रारम्भिक काल की शिल्प कलाकृतियों में कुषाणकाल की मूर्तिशिल्प की विशेषताएं ही गुप्तकाल में भी दिखलाई पड़ती हैं । गुप्तकाल के बाद पूर्व मध्यकाल में जैन प्रतिमाओं का निर्माण अधिक संख्या में हुआ । इस युग विशेष में तीर्थंकरों के साथ उनके उपासक, शासन देवता, वृक्ष, लांछन तथा मूर्तियों को आभूषणों से सजाने की परम्परा भी चल पड़ी तथा तीर्थंकरों के अपने यक्ष एवं यक्षी भी निर्धारित हो गये।[5]

चित्र संख्या 1

मथुरा के चौरासी टीला से प्राप्त दसवीं शती ई. की नेमिनाथ की एक प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में संग्रहीत है, नेमिनाथ ध्यानमुद्रा में बैठे हैं इनके पार्श्व में चतुर्भुजी कृष्ण व बलराम अंकित है । बलराम एक बड़ी सी वनमाला पहने हुए हैं । इनके हाथ में चषक व आयुध है तथा कृष्ण के हाथों में गदा, शंख तथा एक हाथ वरद मुद्रा में एवं दूसरा हाथ जानू पर अवस्थित है ।[6]

बटेश्वर (आगरा) से प्राप्त दसवीं शती ई.की एक ध्यानस्थ नेमिनाथ की प्रतिमा लखनऊ संग्रहालय में संग्रहीत है, यहाँ नेमिनाथ के पार्श्व में चामरधरों के समीप में द्विभुजी बलराम व कृष्ण अंकित हैं । बलराम के दायें हाथ में चषक एवं बायें हाथ में आयुध स्पष्ट नहीं हैं, परंतु कृष्ण के दाहिने हाथ में शंख व बायां हाथ जानु पर अवस्थित है ।[7]

कटरा (राजस्थान) से प्राप्त दसवीं शती ई. की एक नेमिनाथ की प्रतिमा भरतपुर संग्रहालय में संग्रहीत है । यहाँ इनका सिंहासन अलंकृत है तथा लांछन शंख बना है इसके पार्श्व भाग में बलराम व कृष्ण आभूषणों से सुशोभित दिख रहे हैं । बलराम द्विभुज हैं उनके बायें हाथ में गदा का टूटा हुआ हत्था है, बायां हाथ खण्डित है, कृष्ण का मुख भी खंडित है तथा बायां पैर घुटने के ऊपर से खंडित है ।[8]

देवगढ़ मंदिर संख्या दो में दसवी शती ई. की नेमिनाथ की एक प्रतिमा सुरक्षित है । नेमिनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं इनके पैर के पास दो चामरधारी सेवक खड़े हैं साथ ही द्विभुज यक्ष और बाँयी तरफ अम्बिका अवस्थित हैं । नेमिनाथ के दाहिने हाथ से सटे बलराम की मूर्ति पांच सर्पफणों से ढँकी है । इनके बाँयी तरफ कृष्ण चतुर्भुजी है जो घुटने तक वनमाला पहने हुए हैं साथ ही मस्तक पर किरीट मुकुट सुशोभित हैं इनके अवशिष्ट तीन हाथों में चक्र, शंख तथा गदा तथा एक हाथ जानु पर है ।

नेमिनाथ की एक प्रतिमा देवगढ़ से प्राप्त हुई है जो लखनऊ संग्रहालय में संग्रहीत है । यहाँ नेमिनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं । इनके पार्श्व में तीन तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं, इनके कंधे के दोनों तरफ कृष्ण बलराम अंकित हैं , दाहिने तरफ बलराम के सिर पर तीन सर्पफणों के छत्र हैं , बलराम

घुटने तक लटकती हुई वनमाला पहने हुए हैं, बाँयी तरफ कृष्ण भी घुटने तक वनमाला पहने हुए हैं, चतुर्भुज कृष्ण के हाथों में गदा, शंख एवं एक हाथ अभय मुद्रा में है।[10]

विमलवसही की देवकुलिका संख्या 10 के वितान में बारहवीं शती ई. के कुछ दृश्य प्राप्त हुए हैं। इन दृश्यों के मध्य में कृष्ण व उनकी रानियों और नेमिनाथ को जलक्रीड़ा करते दिखाया गया है। जैन परम्परा में वर्णित है कि समुद्र विजय के अनुरोध पर कृष्ण नेमिनाथ को विवाह के लिए सहमत करने के उद्वेश्य से जलक्रीड़ा के लिए ले गये थे। दूसरे वृतान्त में कृष्ण की आयुधशाला का दृश्य है जिसमें कृष्ण और नेमिनाथ के शक्ति परीक्षण के दृश्य हैं। कृष्ण बैठे हैं और नेमिनाथ उनके सम्मुख खड़े हैं यहाँ नेमी की दोनों भुजाएं अभिवादन की मुद्रा में उठी हैं, आगे के दृश्य में नेमिनाथ को गदा घुमाते हुए और कृष्ण को नेमिनाथ की भुजा झुकाने का असफल प्रयास करते हुए दिखाया गया है। इसी दृश्य में नेमिनाथ कृष्ण की भुजा एक हाथ से झुका रहे हैं। आगे के दृश्य में कृष्ण की भुजा झुकी हुई है तथा समीप ही कृष्ण के पांचजन्य शंख को नेमिनाथ बजा रहे हैं तथा उनके धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाते हुए नेमिनाथ का अंकन है। आगे के दृश्य में संभवतः बलराम व कृष्ण के मध्य वार्तालाप का अंकन है। तीसरे वृत्त में नेमिनाथ के विवाह का शिल्पांकन अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से किया गया है।

विमलवसहीं की देवकुलिका संख्या 29 के वितान पर मध्य में शक्तिशाली कालिया नाग को नमस्कार मुद्रा में दिखाया गया है। नाग के सिर के ऊपर कृष्ण अंकित है। कृष्ण अपनी भुजाओं से नाग को दबाये हुए हैं। नाग के पार्श्वों में तीन छोटे-छोटे अंकन हैं जो संभवतः नाग की पत्नियां हैं। सभी नागिनें संभवतः कृष्ण की पूजा अर्चना कर रही हैं कि कृष्ण कालिया नाग को छोड़ दे। वृत्त के दोनों तरफ उभरी आकृतियों को तीन भागों में बांटा गया है, सबसे नीचे की आकृति में कृष्ण घुमावदार शैय्या पर लेटे हैं और संभवतः, उनकी पत्नी पैर दबा रही है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि जैन कलाकारों ने हिन्दू परम्परा में प्रचलित गाथा को अपनी कलाकृतियों में अंकित करने में संकोच नहीं किया।[11]

लूणवसही से लगभग तेरहवीं शती ई. का अंकन ज्ञात होता है। दृश्य संख्या 12 में कृष्ण के जन्म को दिखाया गया है, मध्य में देवकी चारपाई पर लेटी हैं, परिचारिकाएं पास में खड़ी हैं, देवकी के कक्ष के सभी दरवाजें बंद हैं। कृष्ण के जन्म के समय कैदखाने का सिपाही चौकसी के साथ खड़ा है।[12]

नेमिनाथ के जीवन के लगभग 11वीं शती ई. के दृश्य कुंभारिया के महावीर मंदिर के दक्षिणी छोर पर भी देखे जा सकते हैं। पश्चिम की तरफ नेमि की माता शिवादेवी लेटी हैं और 14 स्वप्न अंकित है। उत्तर की तरफ शिवादेवी शिशु के साथ लेटी हैं, आगे नेमिनाथ के जन्म पर उनके अभिषेक का दृश्य है, पूर्व की तरफ नेमि को दो स्त्रियां स्नान करा रही हैं। इसी के आगे कृष्ण की आयुधशाला है, जिसमें कृष्ण के शंख, गदा, चक्र और खड्ग जैसे आयुध प्रदर्शित हैं। समीप ही नेमि कृष्ण का शंख बजा रहे है।[13] खजुराहों की समस्त जैन शिल्प सामग्री एवं स्थापत्यगत अवशेष दिगम्बर जैन सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। यहाँ की मूर्तियां अधिकांशतः पीले रंग के बलुए पत्थर पर उत्कीर्ण हैं,

कुछ लाल व भूरे पत्थरों की भी हैं। कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित प्रमुख जैन अंकन प्रसिद्ध पार्श्वनाथ मंदिर की भित्तियों पर देखे जा सकते है। पार्श्वनाथ मंदिर में अंकित एक शिल्प की पहचान यमलार्जुन उद्धार से की गई है। शिल्प में कृष्ण को द्विभुज दिखाया गया है जो दोनों हाथों से वृक्षों को उखाड़ रहे हैं। मूर्ति में कृष्ण कौस्तुभमणि, किरीट मुकुट, कुण्डल, हार, यज्ञोपवीत, नुपूर और कटि के नीचे वस्त्र पहने हैं। इसी मंदिर में एक अन्य मूर्ति गर्भगृह की दक्षिणी जंघा के पीछे वाले प्रवेश द्वार की बाह्य भित्ति पर बनी है। द्विभुज मूर्ति के बायें हाथ में शंख और दाहिना हाथ अभयमुद्रा में है। मूर्ति की पहचान कृष्ण से की जा सकती है।[14]

चित्र संख्या 2

इसके अतिरिक्त पिलानी, राजस्थान से नेमिनाथ की एक ताम्र प्रतिमा 12वीं शताब्दी प्राप्त हुई है। यहाँ इन्हें स्थानक दिखाया गया है।[15] (चित्र संख्या 2) जैन शिल्प के अवलोकन के पश्चात् मन की यह धारणा बलवती हो जाती है कि कृष्ण बलराम चरित्र का वर्णन केवल हिन्दू साहित्य एवं शिल्प तक ही नहीं सीमित है बल्कि जैन धर्म में भी अपना स्थान बनाये हुए हैं। तीर्थंकर अरिष्टनेमि के चचेरे भाई और प्रमुख उपासक होने के कारण कृष्ण, बलराम को महापुरुष के रूप में जैन परम्परा स्वीकार करती है।[16] हिन्दू धर्म में कृष्ण एवं बलराम को अवतार स्वरूप माना गया है जबकि जैन धर्म अवतार की धारणा को नहीं मानता। जैन मान्यता है कि सामान्य मनुष्य त्याग, संयम और तपस्या से श्रेष्ठ पुरुष बन सकता है किसी की कृपा से कोई महापुरुष नहीं बनता। प्रत्येक जीव सर्वोच्च पद प्राप्त कर सकता है। जैन साहित्यकारों ने कृष्ण, बलराम के चरित्र को उनके बलशाली कार्यों एवं तीर्थंकर अरिष्टनेमि के उपदेश से प्रभावित होने के कारण अपने साहित्य में महत्व दिया है।[17]

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इन धर्मों में जो अंतर है वह दार्शनिक विचारधारा के कारण है।

शिल्पकला के साक्ष्यों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई. तक जैन मान्यता में कृष्ण, बलराम कथा बद्धमूल हो चुकी थी। इसी काल में नेमिनाथ की मूर्ति के पार्श्व में कृष्ण एवं बलराम का अंकन प्रारम्भ हो जाता है। नेमिनाथ के साथ इस प्रकार का अंकन पूर्व मध्यकाल के कुछ अंकनों में भी उपलब्ध है। आबू के लूणवसही एवं विमलवसही तथा कुंभारिया के मन्दिरों में नेमिनाथ के जीवन से संबंधित कथा के साथ-साथ कृष्ण, बलराम कथा को भी उत्कीर्ण किया गया है। इस प्रकार जैन परम्परा में कृष्ण, बलराम का स्थान भगवान अरिष्टनेमि के उपासक रूप में विशेष मान्य है।

सन्दर्भ ग्रंथ –

1. उत्तरपुराण - 71.29.46
2. मारूतिनन्दन प्रसाद तिवारी - जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. 117
3. कुमुदगिरि - जैन महापुराण (कलापरक अध्ययन), पृ. 95-96
4. मारूतिनन्दन प्रसाद तिवारी, पू.नि., पृ. 118
5. यू.पी.शाह - Jaina Iconography खण्ड 1, पृ. 166
6. मारूतिनन्दन प्रसाद तिवारी - पू.नि., पृ. 120
7. वहीं , पृ. 119
8. अमेरिकन इंस्टीव्यूट ऑफ इंडियन स्टडीज, गुड़गांव, चित्र संग्रह 157, 17
9. एम.एन.पी. तिवारी - An unpublished image of Neminath from Devgarh जैन जर्नल, खंड 8, अं. 2, पृ. 84-85
10. यू.पी. शाह - पू.नि. पृ. 168
11. जयंतविजय मुनिश्री, Holy Abu, पृ. 67-69
12. वहीं, पृ. 118
13. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, पू.नि. पृ. 121-122
14. रामाश्रय अवस्थी - खजुराहों की देव प्रतिमाएं, पृ. 188
15. बी.सी. भट्टाचार्य - The Jaina Iconography, चित्र संख्या 37
16. कुमुदगिरी - पू. नि., पृ. 46
17. मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी - पू.नि., पृ. 32

प्राप्त : 03.07.10

जैन राष्ट्रगीत

रचयिता - उपाध्याय मुनिश्री 1008 निजानन्दसागरजी महाराज

जिन गण सब मुनि नायक जय है,
शासन जैन विधाता।
आदिनाथ महावीर तीर्थंकर,
गौतम श्री हैं गणधर।
श्री कुन्द कुन्द उमास्वामी।
जिनसेन शांतिसागर।
हम शुभ नाम गाते।
हम सुख आशीष पाते।
गाते हम तब गाथा।
जग जन जीवन सदा सुखी हो,
शासन जैन विधाता।
जय हे जय हे जय हे -
जय जय जय, जय हे -
शासन जैन विधाता।

28.8.1994 को सृजित

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर का प्रकल्प

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुस्तकालय

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि महोत्सव वर्ष के सन्दर्भ में 1987 में स्थापित कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ ने एक महत्वपूर्ण प्रकल्प के रूप में भारतीय विद्याओं, विशेषत: जैन विद्याओं, के अध्येताओं की सुविधा हेतु देश के मध्य में अवस्थित इन्दौर नगर में एक सर्वांगपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थालय की स्थापना का निश्चय किया।

हमारी योजना है कि आधुनिक रीति से दाशमिक पद्धति द्वारा वर्गीकृत किये गये इस पुस्तकालय में जैन विद्या के किसी भी क्षेत्र में कार्य करने वाले अध्येताओं को सभी सम्बद्ध ग्रन्थ / शोध पत्र एक ही स्थल पर उपलब्ध हो जायें। इससे जैन विद्याओं के शोध में रुचि रखने वालों को प्रथम चरण में ही हतोत्साहित होने एवं पुनरावृत्ति को रोका जा सकेगा।

केवल इतना ही नहीं, हमारी योजना दुर्लभ पांडुलिपियों की खोज, मूल अथवा उसकी छाया प्रतियों / माइक्रो फिल्मों के संकलन की भी है। इन विचारों को मूर्तरूप देने हेतु दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम, 584, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर पर कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुस्तकालय की स्थापना की गई है। गत वर्ष डॉ. अजितकुमारसिंह कासलीवाल के प्रयासों से पुस्तकालय भवन का विस्तार एवं हजारों दुर्लभ पुस्तकों का संकलन जोड़ा गया है। 31.12.2011 तक पुस्तकालय में 32200 महत्वपूर्ण ग्रन्थों एवं 760 पांडुलिपियों का संकलन हो चुका है। इसके अतिरिक्त हमारी सहयोगी संस्था अमर ग्रंथालय में 1010 पांडुलिपियाँ सुरक्षित हैं। अब उपलब्ध पुस्तकों की समस्त जानकारी कम्प्यूटर पर भी उपलब्ध है। फलत: किसी भी पुस्तक को क्षण मात्र में ही प्राप्त किया जा सकता है। हमारे पुस्तकालय में लगभग 300 पत्र – पत्रिकाएँ भी नियमित रूप से आती हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं।

आपसे अनुरोध है कि –

संस्थाओं से : **1.** अपनी संस्था के प्रकाशनों की 1 – 1 प्रति पुस्तकालय को प्रेषित करें।

लेखकों से : **2.** अपनी कृतियों की सूची प्रेषित करें, जिससे उनको पुस्तकालय में उपलब्ध किया जा सके।

3. जैन विद्या के क्षेत्र में होने वाली नवीनतम शोधों की सूचनाएँ प्रेषित करें।

दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम परिसर में ही अमर ग्रन्थालय के अन्तर्गत पुस्तक विक्रय केन्द्र की स्थापना की गई है। पुस्तकालय में प्राप्त होने वाली कृतियों का प्रकाशकों के अनुरोध पर बिक्री केन्द्र पर बिक्री की जाने वाली पुस्तकों की नमूना प्रति के रूप में भी उपयोग किया जा सकेगा। आवश्यकतानुसार नमूना प्रति के आधार पर अधिक प्रतियों के आर्डर भी दिये जायेंगे।

जैन पांडुलिपियों की राष्ट्रीय पंजी निर्माण परियोजना तथा राष्ट्रीय पांडुलिपि मिशन के तहत म.प्र. के जैन शास्त्र भंडारों में संगृहीत पांडुलिपियों की जानकारी भी यहाँ उपलब्ध हैं।

डॉ. अजितकुमारसिंह कासलीवाल
अध्यक्ष

डॉ. अनुपम जैन
मानद सचिव

31.12.2011

वर्ष - 24, अंक - 1, जनवरी-मार्च - 2012, 45-48

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

21वीं सदी में दिगम्बर जैन आचार्य परम्परा

■ अनुपम जैन *

सारांश

ईस्वी सन् 2011 के वर्षायोग में साधनारत ज्ञात समस्त दि. जैन आचार्यों की गुरुपरम्परा का संकलन कर दिगम्बरत्व के इतिहास के संरक्षण का एक लघु प्रयास इस आलेख में किया गया है। संभव है कि कुछ नाम छूट गये हो इन्हें समाहित कर पूर्ण सूची तैयार करने हेतु यह आलेख प्रस्तुत है।

इतिहास साक्षी है कि भगवान ऋषभदेव से महावीर पर्यन्त 24 तीर्थंकरों की परम्परा के अनुयायी महान दिगम्बर जैनाचार्यों की प्रवृत्ति स्वयं को प्रतिस्थापित करने, संघ या परम्परा के प्रचार-प्रसार या इतिहास के सृजन में कभी नहीं रही। पारम्परिक ज्ञान के संरक्षण अथवा स्व- पर कल्याण की भावना से अनुप्राणित होकर आपने जिन ग्रंथों का सृजन किया उनको आगमों से निःसृत ज्ञान या पूर्वाचार्यों के ज्ञान पर आधारित लिखकर अपनी लघुता प्रदर्शित की। अहंकार का भाव लेशमात्र भी न रहा। अनेक ग्रंथों में तो प्रशस्तियाँ भी नहीं लिखी हैं। ग्रंथ में समकालीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन की झलक तो मिल जाती है किन्तु व्यक्तिगत जीवन, जन्मतिथि, जन्म स्थान, माता, पिता, परिवार, अन्य कृतियों, गुरु परम्परा के बारे में जानकारी शून्य रहती है। इससे अनेकशः काल एवं कृतित्व के निर्धारण में बहुत दिक्कत आती है।

बींसवीं / इक्कीसवीं सदी ईसवी में दिगम्बर जैन परम्परा का इतिहास लिखने वालों को सही तथ्य मिल सके एवं इसका समीचीन इतिहास लिखा जा सके इस दृष्टि से मैंने सन् 2000 में तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ द्वारा दिगम्बर जैन साधुओं की वर्षायोग सूची का प्रकाशन किया था। 2000 में 818 साधु (मयूर पिच्छी धारी) साधनारत थे। 2001, 2002, 2003 तक यह क्रम विद्वत् महासंघ के माध्यम से चला किन्तु इसी के मध्य **संस्कार सागर** पत्रिका ने इस कार्य को रुचिपूर्वक, तत्परता सहित करना प्रारम्भ किया एवं मुझे लगा कि मेरी भावना की पूर्ति हो रही है तो संसाधनों को बचाने की दृष्टि से यह कार्य रोक दिया। 2000 से पूर्व के भी अनेक दशकों से जैनमित्र, जैन गजट, सम्यग्ज्ञान, आदित्य आदेश जैसी पत्रिकाएं उपलब्ध वर्षायोग सूची प्रकाशित करती रही किन्तु वे पूर्ण नहीं रहती थी। उनका उद्देश्य श्रावकों को जानकारी देना रहता था एवं इस उद्देश्य से पत्रिकायें आज भी जानकारी प्रकाशित करती हैं किन्तु वे इतिहास नहीं बन सकती। संस्कार सागर पत्रिका का कार्य प्रशंसनीय है। पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा दीक्षित मुनि/ आर्यिकाओं / ऐलक / क्षुल्लक आदि की जितनी व्यवस्थित जानकारी इसमें आती है, वह आदर्श है किन्तु शेष परम्पराओं के बारे में संकलन अधिक व्यवस्थित नहीं है। मेरी तो भावना है कि वर्तमान शताब्दी में साधनारत सभी दि. जैन मुनि / आर्यिका संघों के बारे में इतनी ही व्यवस्थित जानकारी प्रकाशित

* मानद सचिव, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584, महात्मा गाँधी मार्ग, इन्दौर-452 001

हो, तभी दिगम्बरत्व के इतिहास की रक्षा हो सकेगी। पूज्य मुनि श्री अभयसागरजी महाराज प्रतिवर्ष समाधिस्थ / दीक्षित साधुओं की पूर्ण सूची बनाकर प्रकाशित कराते है। यह इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

संस्कार सागर की इस वर्ष की सूची में भी शताधिक साधुओं के वर्षायोग स्थल ही पता नहीं चले ? सूचना एवं संचार क्रांति के युग में हम अपने गुरुओं की वर्षायोग में भी स्थिति पता नहीं लगा पा रहे, इससे ज्यादा दुःखद क्या होगा?

वर्तमान में साधनारत अनेक मुनियों की गुरु परम्परा ही पता नहीं चलती। कुछ वर्षों से मेरे मन में यह विचार था कि वर्तमान में साधनारत संतों की गुरु परम्परा के बारे में जानकारी संकलित की जाये। प्रथम चरण में वर्तमान आचार्यों की जानकारी संकलित करने का वर्ष 2008 में महावीर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित **अ.भा.दि. जैन मन्दिर निर्देशिका** में एक प्रयास किया था। अब पुनः उसे परिमार्जित कर प्रस्तुत कर रहा हूँ संभव है कि कुछ त्रुटि रह गई हो। सुधी पाठक पूज्य गुरुजन एवं वरिष्ठ श्रावक इस ओर ध्यान अवश्य दिलावे जिससे इस ऐतिहासिक जानकारी को निर्दोष बनाकर सुरक्षित किया जा सके।

सिद्धांततः वर्तमान के सभी दि. मुनि भगवान महावीर, गौतम गणधर एवं आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा के हैं तथापि बीसवी सदी में विश्रृंखलित मुनि परम्परा को पुनर्व्यवस्थित करने एवं दि. मुनियों के दक्षिण से उत्तर तक निर्बाध विहार को सुनिश्चित करने में बींसवी सदी के प्रारम्भ में 3 आचार्यो का विशेष योगदान है।

1. चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी (दक्षिण)
2. मुनिकुञ्जर आचार्य श्री आदिसागरजी 'अंकलीकर'
3. आचार्य श्री शांतिसागरजी (छाणी)

वर्तमान में साधनारत सभी साधु इन्हीं 3 की शिष्य प्रशिष्य परम्पराओं से सम्बद्ध हैं। इनको चार्ट के माध्यम से आगामी पृष्ठों पर अंकित किया गया है। यदि किसी वर्तमान या दिवंगत आचार्य का नाम छूट गया हो तो हमें अवश्य सूचित करने का कष्ट करें। वर्तमान आचार्यों के नामों को बोल्ड अक्षरों में लिखा है। शेष आचार्य संभवत: समाधिस्थ हो चुके हैं या उनकी जानकारी हमें नहीं हो सकी है। त्रुटि के लिए अग्रिम क्षमायाचना।

कतिपय आचार्य अपने को महावीर की परम्परा का बताकर बात को घुमा देते हैं। वस्तुत: उनके दीक्षा गुरु जिस परम्परा के है हमने उन्हें उसी परम्परा का माना है। हमारा प्रयास है कि इस सूची के माध्यम से वर्तमान के सभी आचार्यों का विवरण संकलित हो जाये एवं आगामी 2012 के वर्षायोग में सभी आचार्यों से सघन सम्पर्क कर उनकी परम्परा के साधनारत समस्त मुनियों/आर्यिकाओं/क्षुल्लक/क्षुल्लिकाओं का विवरण संकलित किया जाये। फिलहाल भट्टारक स्वामी जी महाराजों को इस सूची में नहीं लिया है। दि. मुनि परम्परा का व्यवस्थित विवरण संकलित करना हमारा प्राथमिक नैतिक कर्त्तव्य है यदि हम इसमें विफल रहे तो इतिहास हमें क्षमा नहीं करेगा। आशा है कि सभी का सहयोग हमें प्राप्त होगा। आगामी पृष्ठों पर आचार्य परम्परा का विस्तृत विवरण दिया है।

वर्ष - 24, अंक - 1, जनवरी - मार्च - 2012, 49-56

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

श्रमण सभ्यता के सोपान

■ सूरजमल बोबरा *

सारांश

इतिहास कोई भ्रमों का पुलिंदा नहीं है, वह मानव के कार्यकलापों का अभिलेख है। मनुष्य ने कब क्या किया ? और क्या सोचा ? हजारों लाखों वर्ष पूर्व यह सब उसने आज के वैज्ञानिकों या इतिहासकारों से पूछ कर नहीं किया। वह तो बस हुआ है। वह समय की उपज थी। आवश्यकता केवल इतनी है हम परिवर्तनों को पहचानें और उनमें छिपे संदेशों को पकड़ें। पुराणों के संदेशों को असिद्ध कहकर टाल देना एक एतिहासिक भूल होगी।

जो कुछ गुजर चुका है उसे कोई नहीं बदल सकता। हम यह तो नही कह सकते कि ईसा मसीह नहीं हुए थे। हम यह भी नहीं कह सकते कि आदिनाथ नहीं हुए थे। यह कहना भी कठिन है कि बुद्ध और महावीर नहीं हुए थे। प्रमाण के अभाव में आप नकार दें कि ऋषभदेव व राम का जन्म अयोध्या में नहीं हुआ था यह भी संभव नही। कौन सा लिखित चिट्ठा है इस बात का कि कृष्ण ने अर्जुन के लिए गीता का सृजन किया था। प्रमाण बहुत कम व्यक्तियों या घटनाओं के मिलते हैं। जो बहुत पहले गुजर चुके हैं तो जो कुछ हमारे दिल और दिमाग में है, पुराणों और शास्त्रों में है वह नहीं कैसे हो जायगा? वास्तव में जिनका अस्तित्व बताया जाता है उन को नकारने के प्रमाण दिया जाना चाहिए। उनके होने को सिद्ध करने के लिए प्रमाण नहीं चाहिए। यदि आप उसे नकार रहे हैं तो प्रमाण दीजिए।

उदाहरण के लिए 'जनक' को लिजिए। जनक के अस्त्वि का कौनसा पुरात्वीय प्रमाण हमारे पास है? पर जनक था। राम कथानकों से भरा समस्त साहित्य वह चाहे वेद व्यास लिखित हो या तुलसीदास लिखित हो या रविषेण(7 वीं शताब्दी) लिखित हो या आधुनिक साहित्यकारों द्वारा सजाया गया हो, जनक–सीता– मिथिला सब जनक के अस्तित्व को पल पल प्रतिपादित करते हैं। इनके पुरातत्वीय प्रमाण मांगना बौद्धिक प्रमाद माना जाएगा। जो सूर्य–चांद–मंगल–पृथ्वी हमे दिखाई दे रहे हैं उनके अस्तित्व की तिथि आज तक कोई वैज्ञानिक प्रमाणित नहीं कर पाया है पर सूरज– चांद और तारे हैं, क्योंकि हमारी आंखें उन्हे देख रही है, उसी प्रकार हमारी स्मृति की आंखें राम को देख रही हैं, कृष्ण को देख रही हैं, आदिनाथ को देख रही हैं। पुराणकारों ने बार बार दोहरा कर उन्हें हमारी स्मृति में जीवित रखा है तो फिर उसका प्रमाण ढूंढना अपने आप पर अविश्वास करना है। कोई पुरातात्विक संदर्भ मिल जाये तो उसे सहेजें, सम्हालें, उससे कोई नया संदर्भ मिले तो उसका वैज्ञानिक परीक्षण करें। इस परीक्षण में भी एक प्रश्न सदैव जागरूक रखें कि धर्म संबंधी प्रमाणों को नष्ट करने की परंपरा रही है। प्राचीन मंदिरों को बदल कर अपनी मान्यता के प्रतीकों में बदल लेना, शिलालेखों को धराशायी कर देना, मूर्तियों को खंडित कर अपनी परंपरा का बना लेना आदि होता रहा है। अतः इन पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर ही टिके रहना पूर्णतः सत्य नहीं भी हो सकता है। यह असत्य भी हो सकता है और बार दोहराये जाने के कारण भ्रम फैल रहा हो। हिटलर कहता था, झूठ को भी बार-बार दोहराते रहो वह सत्य लगने लगेगी।

* निदेशक - ज्ञानोदय फाउन्डेशन, 9/2 स्नेहलतागंज, इन्दौर

लिखित प्रमाण भी थे जो विदेश चले गये। मूर्तियां व प्रतीक चिन्ह विदेश चले गये। जो आध्यात्मिक संदर्भ मूलतः श्रमण थे उन्हे अन्य चिंतको ने अपने नाम से प्रकाशित कर दिया। यह आतंक हुआ है। कई बार ऐसा कहा जाता है कि जैन धर्मावलम्बी अन्य धर्मावलम्बियों की बातों को अपनी कह कर उसका प्रचार करते हैं।

इस परिपेक्ष्य में निम्न बातों पर ध्यान दिया जा सकता है–

1. शिल्पांकन सबसे पहले जैन धर्मावलम्बियों ने प्रारंभ किया। यह तथ्य कई पुरातत्व विदों ने स्वीकार किया है।

2. आत्मा पर आधारित आघ्यात्मिक सिद्धांतो को सबसे पहले अभिव्यक्ति जैनाचार्यों ने की है। यह सप्रमाण सिद्ध है। बल्कि इन सिद्धान्तों को नया चोला पहनाकर अपना कहने की सीना जोरी हुई है।

3.यह सर्वज्ञात है कि वैदिक परिवार में जन्म लिए व शिक्षित हुए बहुत से मनीषियों ने जैन धर्म ग्रहण कर लिया और वे जैन धर्म के प्रबल प्रतिपादक रहे अतः यह भ्रम पैदा हो सकता है कि उन विद्वानों का कथन जैनेतर हो किन्तु वह वास्तव में जैन होता है। ऐसे धर्म परिवर्तन को विद्वेष का आधार न बनाकर भारतीय संस्कृति के लचीलेपन के रूप में देखना चाहिए। इसे धर्म परिवर्तन नहीं कहा जाना चाहिए– बल्कि यह ज्ञानोदय है। इन विद्वानों की विद्वत्ता का श्रमण दर्शन सदैव आभारी रहेगा। इन्द्रभूति के रूप मे यदि महावीर को गणधर न मिलता तो हो सकता है महावीर की सूचनायें हम तक पहुँचती ही नहीं।

जितने भी जैन धर्मावलम्बी शासक हुए वे सब धर्मसहिष्णु थे। श्रेणिक,चन्द्रगुप्त, खारवेल, अशोक, सम्प्रति सभी गंग नरेश, चाणक्य, सभी राष्ट्रकूट नरेश, सभी परमार नरेश–जैन धर्म के प्रति समर्पित रहे किन्तु अन्य धर्मालम्बियों के प्रति सहिष्णु रहे। उन्होंने उन्हें भी सम्मान दिया और उनके प्रतीकों के निर्माण व व्यवस्थापन में सहयोग दिया। इन सभी नरेशों और उनके वंशों की संक्षिप्त जानकारी यथास्थान संकलित है। विश्व विख्यात इतिहासज्ञों ने इसे स्वीकार किया है।

हमें जो सूचनाएं पुराणों में मिलती हैं वे भरत खंड को लेकर ही मिलती हैं अतः अधिकतर क्षेत्र संबंधी संदर्भ इसी सीमा में आते है।

भरत खंड की भौगालिक रचना भी कई बार बदली है। यद्यपि इसके त्रिभुजाकार स्वरूप में अधिक परिवर्तन नहीं आया किन्तु उत्तरी पहाड़ों और दक्षिणी समुद्र के बीच स्थित भूखंड में कई परिवर्तनों के संकेत मिलते हैं। उत्तरी पहाड़ों और समुद्रों के आकारों में भी परिवर्तन हुआ है। इसके भी पर्याप्त प्रमाण है। इन परिवर्तनों ने मनुष्य के कार्य कलापों को अवश्य प्रभावित किया है। इन परिवर्तनों ने कई बार जलवायु सम्बन्धी परिवर्तन किये, जिसने आबादी के ह्रास से लेकर आबादी को स्थान परिवर्तन के लिए बाध्य किया। कई बार तो बहुत कुछ नष्ट हो गया जिसे प्रलय नाम दिया गया। प्राणियों ने फिर आबादी का विस्तार किया, अपनी स्मृतियों के सहारे अपनी जीवन व्यवस्थाओं का पुनर्स्थापन किया और यह क्रम चलता रहा। इस सृष्टि का कभी अंत नहीं हुआं यह निरंतर चलती रही।

आवश्यकता केवल इतनी है कि हम परिवर्तनों को पहचानें और उनमे छिपे संदेशों को पकडें। परिवर्तन, प्रलय के बीच एक स्मृति ही तो सहारा है जो ज्ञान को आगे बढ़ाती है और सूचनाओं को भूमि प्रदान करती है। पुराणों के संदेशों को असिद्ध कहकर टाल देना एक ऐतिहासिक भूल होगी। संदेशों को डी कोड (D code) करने का नाम ही पुराण प्रणयन है। सदेंश जो गणना क्षमता सीमा से पूर्व से चले आ रहे हैं उन्हें डी कोड करना अत्यन्त दुरूह कार्य है पर पुराणकारों व ग्रंथकारों ने

वह किया है। योग, ध्यान, चिंतन कें माध्यम से डी कोड कर उन्होंने यह बताया कि ज्ञान की अवस्थाएं जब अवधिज्ञान में परिवर्तित हो जाती है तो जानना पारदर्शी हो जाता है। अवधिज्ञानी ने पारदर्शी तथ्य बताए तो ग्रंथकारों ने उन्हें डी कोड कर जनभाषा में प्रवाहित किया और टीकाकारों ने उन्हे डी कोड कर विस्तार से समझाया।

डीकोडिंग का अर्थ है संदेश(लिखित या अलिखित) में छिपे अर्थ को स्पष्ट करना। सभी तीर्थकर अवधिज्ञानी थे और सभी गणधर ज्ञान की वह क्षमता प्राप्त थे जिससे वे सूचनाओं को डीकोड करने में सक्ष्म थे। अलग अलग समय में मनुष्य की भाषा क्षमता भिन्न भिन्न थी और संदेशों का प्रवाह उस युग की भाषा में हुआ। यह अन्य बात है कि वह भाषा हम पढ़ नहीं पा रहे हैं इसलिए वर्तमान भाषा में हम उसे डीकोड नहीं कर पा रहे हैं। हमारी इस विवशता के कारण हम यह नहीं कहें कि जो पुराणों में लिखा है वह अविश्वसनीय है। उसे हम तब तक अविश्वसनीय न कहें जब तक हम ज्ञान के उस धरातल पर न पहुँच जायें जिसे अवधिज्ञान कहतें हैं। हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि आकाश–ब्रह्माण्ड, स्वयं सूचनाओं का अपार भंडार है। योगी अपनी साधाना व एकग्रता से इन सूचनाओं को पकड़ने में समर्थ होते हैं और मस्तिष्क के विभिन्न प्रकोष्ठ उन्हे डीकोड करने में समर्थ होते हैं। वैज्ञानिक शोध उसे प्रमाणित कर रहे हैं।

ज्ञान मनुष्य जीव का विशेष गुण है जो स्व और पर दोनों को जानने में समर्थ है। वह पांच प्रकार है – मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय व केवल ज्ञान। वैसे तो ज्ञान पर चिंतकों ने बहुमूल्य सामग्री दी है किन्तु इसकी गूढ़ता पर जाना यहाँ हमारा प्रयोजन नहीं है। यहाँ केवल इस बात पर सोच रहे हैं कि अवधिज्ञान स्व और पर को पारदर्शी रूप से जानता है इसलिए वह सूचनाओं को पारदर्शी रूप से प्रेषित करने में सक्ष्म है। सम्यग्दर्शन च चरित्र की विशुद्धता के प्रभाव से किन्हीं साधकों को एक विशेष प्रकार का ज्ञान हो जाता है जिसे अवधिज्ञान कहते हैं। यह मूर्तिक अथवा संयोगी पदार्थों को जान सकता है, परंतु इन्द्रियों आदि कि बिना जान सकने के कारण प्रत्यक्ष है।

समस्त आगम, अवधिज्ञानियों व केवल ज्ञानियों की देशनाओं पर आधारित है अतः सत्य हैं। केवल अतीन्द्रिय अतिशय ज्ञान है जो बिना इच्छा व बुद्धि के प्रयोग के सर्वांग से सर्वकाल व क्षेत्र संबंधी सर्व पदार्थे को हस्तामलकवत टंकोत्कीर्ण प्रत्यक्ष देखता है। अतः भूत, भविष्य व वर्तमान को अवधि ज्ञानी प्रत्यक्ष देखता है। इसी कारण भूतकाल की बातें उसे यथारूप में दिखाई देती है।

जो गुजर चुका है वह अपने अवशेष अवश्य छोड़ता है और वह स्मृतियों को ताजा कर वर्तमान के आधार पर परिभाषित करने लगता हैं। इतिहास की परतें खुलने लगती हैं। हम विगत के इन अवशेषों से जुड़ी स्मृतियों की श्रृंखला को संजोने का प्रयास करेंगे। गुजरे हुए समय का राजदाँ केवल अवधिज्ञानी हो सकता है जो वर्तमान युग में कोई नहीं हम तो केवल जहाँ जो अवशेष मिल गया उसके आस पास चक्कर लगायेंगे और अवधिज्ञानी न हो सकने की शर्म को ढंकने का प्रयत्न करेंगे। देखते हैं हमें क्या हाथ लगता है।

ऐसा पहले भी हुआ है। कुछ ज्ञानियों ने अवधिज्ञान न होने के कारण अन्य संदर्भों और स्मृति के सहारे जो मार्गदर्शन दिया वह हो सकता है पूर्णतः ठीक न हो किंतु उसे पूर्णतः छोड़ा नहीं जा सकता – उसे समीक्षा सहित विचारार्थ लिया जा सकता है। जो ध्यानी और योगी होते हैं वे सच्चाई के अधिक निकट होते हैं।

वैज्ञानिक आखिर क्या करते हैं? अध्ययन, साधना, इन्द्रियों से अलिप्तता तथा ध्यान से उनका ज्ञान तंत्र उर्ध्वगामी हो जाता है। उनका मस्तिष्क ब्रहमाण्ड में व्याप्त उन सूक्ष्म तरंगों को ग्रहण करने

लगता है जिसे साधारण आदमी का मस्तिष्क ग्रहण नहीं कर पाता है। किसी विशेष विषय पर केन्द्रित रहने के कारण उन्हे उस विषय के तथ्य पारदर्शी रूप में दिखाई देने लगते हैं और हम कहते हैं नया आविष्कार हुआ। अध्ययन जो अविष्कृत हो चुका है, उसका ज्ञान हो जाता है, वह मस्तिष्क की सृजनशीलता को विस्तार देता है और ध्यान से मस्तिष्क के एंटिना खुलने लगते हैं और सूचनाएं अनावृत होने लगती हैं। इन सूचनाओं को वैज्ञानिक अपनी भाषा में डीकोड कर लेता है। जीवन क्यों ? इन प्रश्न के उत्तर को ढूंढने में रत और सफलता पाये वैज्ञानिक तीर्थंकर और केवली कहलाते हैं। उनकी सूचनाओं से दर्शन, इतिहास,द्रव्य शास्त्र, भूगोल, खगोल और ज्ञान की अन्य सभी शाखाओं के द्वार खुल जाते हैं। ज्ञान के बारे में यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि ज्ञान कभी पैदा नहीं होता वह अनावृत होता है। संभवतः अनंतकाल से चली आ रही सूचनाएं डीकोड होकर हमारे ज्ञान का भंडार बन गई है। ज्ञान की यह परिभाषा स्वयं स्पष्ट कर रही है कि सब कुछ ब्रह्माण्ड में भरा है।

इतिहास के बारे में जो कुछ सूचनाएं हमारे पास उपलब्ध है उसके दो आधार हैं एक पुराण और दूसरा वैज्ञानिक प्रमाण।

वैज्ञानिक प्रमाण सामने प्रत्यक्ष होते हैं अतः वे विश्वसनीय लगते हैं किंतु उनकी एक सीमा है। उनकी खोज अभी जारी है। प्रतिदिन वैज्ञानिक ब्रहाम्ण्ड के बारे में हमें कई नई नई सूचनाएं दे रहे हैं। जीव और जगत के बारे में ऐसी सूचनाएं एकत्रित हो रही हैं जो परस्पर विरोधी भी हैं।भविष्य में संभवतः यह स्वीकार करना होगा कि यह सृष्टि और प्राणी अनंत काल से हैं और अनंत काल तक रहेंगे। जैन पुराण यही सूचित कर रहे हैं।

सूचना का दूसरा आधार पुराण है। भारत में भूगोल और इतिहास के बारे में सूचना देने वाले वैदिक(हिन्दू) पुराण, जैन पुराण और बौद्ध ग्रंथ है। एक तथ्य स्पष्ट रूप से उभरकर आता है कि जो भी पुराण बने हैं उनका सूचना का आधार एक ही था। इन पुराणों के 'श्रुत' से पुराण में बनने के पहले जो ऋषि, वैज्ञानिक थे वे धर्म की सीमा से बंधे नहीं थे। वे जंबूद्वीप के वैज्ञानिक थे। मति, श्रुति एवं मनःपर्यय ज्ञान के धारक थे और कुछ अवधि ज्ञानी भी थे। यह तो निश्चित रूप से पता चलता है कि इन सूचनाओं मे आध्यात्मिक दृष्टिकोण होता था। अतः हो सकता है कालांतर में धर्म की सीमाओं में यह सूचनाएं रूढ़ हो गई हों और भ्रम फैल गया हो। देश, विदेश के अनेक अध्येताओं ने यह स्वीकार किया है कि जैन पुराणों के कथन सत्य के अधिक निकट हैं। फिर भी यह स्वीकार करने में कठिनाई नहीं होना चाहिए कि ब्रम्हाण्ड संबंधी सूचनाएं हमारे यहाँ समान वैज्ञानिक आधार पर खड़ी थीं। वैसे ही इतिहास की सूचनाएं भी समान आधार या स्त्रोत से आ रही हैं। भिन्न भिन्न विद्वानों ने उन्हें संग्रहीत किया अतः उनमें अंतर दिखाई देता है। इन सब सूचनाओं को सग्रंहीत करने में इन विद्वानों ने सूक्ष्म दृष्टि (ज्ञान, प्रयोग तथा चिंतन आधारित) का प्रयोग किया है और ऐसा लगता है विज्ञान अभी उस सीमा का स्पर्श नहीं कर पाया है। आकाश और लोकाकाश की जो परिभाषा इन विद्वानों ने दी हैं वे बहुआयामी हैं। यदि उन सब आयामों को आधार बनाकर वैज्ञानिक खोज हो तो सूचनाओं को अधिक तर्क संगत आधार मिल सकता है।

पौराणिक सूचनाओं और वैज्ञानिक प्रमाणों को हम आमने सामने रखकर देखें तो हमे लगेगा कि पौराणिक सूचनाएं तर्क संगत हैं। उदाहरण के लिए हम भारत क्षेत्र के नवीनतम भौगोलिक और प्राचीन पौराणिक सूचनाओं पर बने चित्रों के स्वरूप पर ध्यान दें तो उनमें एक समानता है यद्यपि पृथ्वी के रूप में परिवर्तन होते ही रहते है–

भरत क्षेत्र की सूचनाएं संकलित करते समय पुराणकारों के पास वैसा ही भरतखंड का रेखाचित्र रहा जैसा वह अभी दिखाई दे रहा है इसी कारण दोनों चित्रों में पृथ्वी, समुद्र, वन पर्वतों का स्थान

एक जैसा है। यह पुराणों की प्रामाणिकता का श्रेष्ठ प्रमाण है। ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त त्रिलोक संबंधी सूचनायें, काल संबंधी सूचनायें व अन्य सभी सूचनायें गुप्त भाषा मे है उन्हें अभी अनावृत होना शेष है। हमारे इतिहास ने इसी भौगोलिक पृष्ठ भूमि में जन्म लिया है।

भूलना मनुष्य का स्वभाव है अतः सूचनायें व प्रतीकात्मक चित्र सदैव हमारी दृष्टि के सामने रहना चाहिए ताकि इतिहास की कड़ियाँ जोड़ने में कठिनाई न हो। पुराणों ने आदिनाथ, भरत, बाहुबलि, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ के प्रमाण सामने रखे तो आज शिलालेखों, पुरातात्विक प्रमाणों के साथ उन्हें जोड़कर इतिहास की धाराएं ढूंढने में मदद मिल रही है। अभी शलाका पुरुषों के पूर्वभवों के माध्यम से प्राचीन इतिहास को पहचानने का प्रयत्न प्रारंभ नहीं हुआ है। यह होते ही एक नयें संसार का द्वार खुल सकता है। पुराणों और परंपराओं का विवेचन किए बिना उन्हें अवैज्ञानिक की सीमा में डालना अविवेक पूर्ण होगा।

इतिहास कोई भ्रमों का पुलिंदा नहीं है। वह मानव के कार्यकलापों का अभिलेख है। मनुष्य ने कब क्या किया और क्या सोचा–हजारों लाखों वर्ष पूर्व वह सब उसने आज के वैज्ञानिकों या इतिहासकारों से पूछ कर नहीं किया। ब्रहमाण्ड की गोद में सूरज चाँद के साये में पक्षियों कलरव व असंख्यात पशुओं, कीड़ों–मकोड़ो के क्रंदन, हलन–चलन के बीच अपने जीवन को मानव ने परभाषित किया इस पर यह प्रश्न पैदा करना कि यह कब हुआ और उसे वर्षो में नापना सबसे बड़ा भ्रम पैदा करना है। ब्रह्माण्ड और प्राणी अनादिकाल से चले हैं और चलते रहेंगे। हाँ यह निश्चित किया जा सकता है कि कब, क्या ज्ञात रूप से किया और उसें वर्षो के कठघरे मे बांधा भी जा सकता है किंतु उसके पहले कुछ नहीं हुआ था यह अनुमान लगाना भी हो सकता है हमें सोच के गलत मार्ग की और ले जाए। **दृष्टि यह होना चाहिए कि जिसका प्रमाण मिल गया है वह यह है और जो नहीं मिला है उसे खोजा जाना चाहिए। सृष्टि की निरंतरता इससे प्रभावित नहीं होती। हम यह कर सकते हैं कि जिसके प्रमाण मिल गये हैं उसे ज्ञात इतिहास कहें किन्तु जिसके प्रमाण हम अपनी क्षमताओं की सीमा के कारण नही जुटा पायें हैं उसे अप्रमाणिक नहीं कहें।** उसे नकारें नहीं उसे भले ही आप श्रुत इतिहास या पौराणिक इतिहास कह सकते हैं। पुराणों का विकास भी ऐसा प्रतीत होता है दो आयामों में हुआ। पहला जब यह एहसास हो गया कि कुछ रिकार्ड ऋषियों की स्मृति में है उसका लोप होता जा रहा है तो उसे ग्रंथ रूप में एकत्रित/संकलित कर लिया जाय। दूसरा आयाम तब प्रारंभ हुआ जब जो इतिहास था उस पर अपनी मान्यताओं आग्रहों और सोच के आधार पर छेड़छाड हुई। कुछ पुराणकारों ने जो सिद्ध हस्त कवि और लेखक थे कई पात्र ऐसे धरती पर उतारे जो आनंद–दुःख, ज्ञान–मूढ़ता, शौर्य–कायरता, चरित्र–दुश्चरित्र और सांसारिकता से परिपूर्ण थे। कई ऐसी घटनाओं को साकार किया गया जो प्राथमिक सूचनाओं पर तो खड़ी थी किंतु जिसमें कल्पना कौतूहल व तर्क का सम्मिश्रण कर दिया गया। इसने मूल सूचनाओं पर एक चादर सी ओढ़ा दी। मूल सूचनाओं को संकलित करने वाले पुराण भी शंकाओं के घेरे में आ गये। पर यह स्वाभाविक था। घटनाएं कई तरह जीवित रहती है। कभी कथा–कहानी कभी चरित्रों के माध्यम से और कभी परंपराओं के रूप में। आवश्यकता है इस अंतर को समझने की।

हमें वैज्ञानिक अवधरणाओं ने भी कभी कभी भ्रमित किया है। इस कथन का तात्पर्य यह नहीं कि विज्ञान तर्क सम्मत नहीं है किंतु कभी कभी हम वैज्ञानिक उपलब्धियों से इतने अभिभूत हो जाते हैं कि मनुष्य की शक्ति से ऊपर उसे मानने लगते हैं। कम्प्यूटर की शक्ति बहुत है। आम मानवीय क्षमताओं से परे उसकी सामार्थ्य पर भारतीय गणितज्ञ श्रीनिवास रामानुजम ने अब से करीब एक

शताब्दि पूर्व यह सिद्ध कर दिया था कि इंसानी दिमाग की तेजी और दक्षता का मुकाबला कभी भी दुनिया के तीव्रतम कम्प्यूटर से नहीं किया जा सकेगा। वर्तमान में कम्प्यूटर की यथार्थता और दक्षता जिस 'पाई' के मान से दशमलव के अंकों के आधार पर की जाती है उसे कम्प्यूर के आविष्कार से कई दशकों पूर्व ही श्री रामानुजम के मस्तिष्क ने एक साधारण सूत्र से हल कर डाला था। सारा विश्व आज भी श्री रामानुजम का इस बात के लिए लोहा मानता है।

यह मनुष्य के मस्तिष्क की शक्ति का जीवंत उदाहरण हैं। मनुष्य का मस्तिष्क ज्ञान की विभिन्न अवस्थाओं को अनावृत करता हुआ अवधिज्ञानी व केवल ज्ञानी हो सकता हैं। जैन सिद्धांत उसे अनादिकाल से दोहराता आया है। वास्तव में यही श्रमण परंपरा में स्वीकार्य पुरुषार्थ है।

हमें एक बात पर ध्यान देना होगा कि भूगोल के आंगन में ही इतिहास पल्लवित होता है। समान भौगोलिक परिस्थितियों में जन्म लेने वाले इतिहास पुरुष भी एक ही होंगे। इससे भी महत्वपूर्ण बात इतिहास पुरुषों के लिए यह होती है कि वे इतिहास पुरुष तब बनते हैं जब सब लोगों का समर्थन उन्हें प्राप्त होता है। वे छांट छांटकर जैनों का समर्थन नहीं पाते। वे ढूंढ ढूंढकर ब्राह्मणों का समर्थन नहीं पाते। वे सब योग्य व समर्थ होने के कारण समर्थन पाते हैं। अतः जिसको जिस रूप में उसका समर्थन या सन्ध्यि मिला उसने उस रूप में उसे ग्रहण कर लिया। इसी कारण कभी कभी भ्रम पैदा हो जाता है कि राम जैनों के थे या कृष्ण वेदानुयाईयों के थे। वास्तव में वे सबके थे। ये तो हम हैं जो उन पर लेबल लगाते हैं। महावीर व बुद्ध ने जन जन को मानवीय अवधारणाओं से साक्षात्कार कराया इसलिए वे इतिहास पुरूष बने। माहवीर किसी को जैन के घेरे में और कृष्ण ने किसी को वैदिक के घेरे में नहीं बांधा। हम जैन अपने अंदर झांकें। महावीर का ही उदाहरण लीजिए। महावीर कपड़ाधारी थे? ब्रह्मचारी थे या उन्होंने विवाह किया था? यह सब विवाद भ्रम से जन्मे हैं। महावीर गृहत्याग के पूर्व कपड़ाधारी थे और दीक्षा के पश्चात नग्न रहते थे। महावीर कपड़ाधारी थे और नहीं भी थे। 2600 वर्ष पूर्व के उनके कार्य कलापों का कोई फोटोग्राफिक विवरण तो नहीं है। जो आंख से देखो और निर्णय कर लो। अतः हम इस पर तकरार करें यह कहाँ तक ठीक है? कभी कभी तो ऐसा लगता है जैसे समय को भ्रमित कर लोग अपने महत्व को बनाये रखना चाहते हैं। वे ऐसा क्यों नहीं सोचते कि इससे मूल मुद्दा ही उलझ जाता है। यदि हम ऐसा विवाद करते रहे तो दो चार शताब्दी बाद लोग माहवीर को भुला देंगे और कपड़े वाले साधुओं को ही याद रखेंगे। क्या यह नहीं होना चाहिए कि महावीर का अस्त्विव बना रहे भले ही इस दंगल से हमें महावीर को मुक्त करना पड़े। कैसे भ्रम फैलता है यह इसका उदाहरण है।

क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि महावीर धीरे धीरे जनमानस से दूर होते जा रहे हैं और जोर जोर से उनका इस या रूप में उद्घोष करने वाले बियबान में उद्बोधन कर रहे हैं। कभी कभी ऐसा महसूस होता है यदि महावीर स्वयम् कभी इन लोगों के बीच आ जायें तो ये उन्हे पहचानेंगे भी नहीं।

इतिहास के अध्येताओं की विवेचनाओं का आदर करते हुए हम कुछ थोड़ा सा हटकर कालक्रम को विभाजित करने का प्रयास करें तो हो सकता है कुछ नये तथ्य जो दृष्टि से ओझल हो रहे हैं उजागर हो जायें। आईये प्रयत्न करते हैं।

वेदों के गान से पूर्व का काल– इस बात से अधिकतर विद्वान सहमत हैं कि वेदों की ऋचायें 3 से 4 हजार वर्ष पूर्व गाई जाने लगी थीं। इस काल के पूर्व सुदृढ सांस्कृतिक जीवन पद्धति थी जिसे पुराविदों ने हड़प्पा संस्कृति कहा। हड़प्पा संस्कृति के पूर्व के काल को ठीक से न जानने के कारण उसे अंधकार युग कह दिया गया।

भरत क्षेत्र की सभ्यता के निम्न सोपान नजर आते हैं।

पहले की चौबीसी से प्ररित सभ्यता जिनके अब कोई विवरण उपलब्ध नहीं केवल जैन संदर्भ इसे दोहराते हैं । (सृष्टि यदि थी तो इसे हम किस आधार पर मना कर सकते है)	→	ऋषभ पूर्व वस्तु बहुल और सीमित जन संख्या वाली सभ्यता जिसे कल्पवृक्ष की बहुलता से जोड़ा गया। वास्तव में यह विभिन्न वृक्षों की सम्पदा से भरा काल था (कुल कर काल)	→	ऋषभ प्रवर्तित कर्मपरक सभ्यता जिसकी पूर्णता मोक्ष में होती है। (करीब 20 लाख वर्ष पूर्व)	→	प्राकृतिक परिवर्तनों से उत्पन्न वस्तुओं की कमी का काल और जनसंख्या के विस्तार का काल जिसे संतुलित करने के लिए गंगावतरण हुआ और कृषि जनित सभ्यता का विस्तार हुआ (करीब 8 से 10 लाख वर्ष पूर्व)	→	नगरीय समाज का गठन-पशु पालन व कृषि कार्यों का विस्तार अतः चिंतन की परम्परा का प्रारंभ हुआ। जो दिखता है उसके ही प्रभुत्व को स्वीकार करने का काल

धातु ज्ञान का विकास जिससे वैज्ञानिक कर्म का फैलाव हुआ। समाज का व्यक्ति, शक्ति और समूह शक्ति में विभाजन। विचार भिन्नता का काल। आध्यात्म और प्रकृति जनित कल्पना से जन्में प्रतीकों से संघर्ष का काल (श्रमण व वैदिक सभ्यता के संघर्ष का काल)	→	विचार भिन्नता से समूहों का विभाजन। आर्थिक सम्पन्नता में वृद्धि। देश विदेशों में फैला व व अपने ज्ञान का विस्तार हुआ। सम्भवतः भाषा की अभिव्यक्ति को सक्षम आधार मिला।	→	जटिल समाज का विस्तार। सामरिक शक्ति विस्तार के साथ अपनी बौद्धिक क्षमता को व्यक्त करने के लिए नए क्षेत्रों में प्रत्यावर्तन। पूर्व प्रचलित देवताओं के स्थान पर नये प्रकृति जन्य देवताओं की कल्पना। आर्थिक समृद्धि का काल। वैदिक संस्कृति का उदय भारत सोने की चिड़िया बन गया।	→	वर्ग विभेद, शक्ति संघर्ष, नई-नई राज्य सत्ताओं और धर्म सत्ताओं का उदय। संघर्ष ऐसा कि उसने भरत क्षेत्र के आधार को ही कमजोर कर दिया।	→	विदेशियों का आगमन जो भारत की आर्थिक समृद्धि को लूटना चाहते थे। भारतवासी अपनी ही लगाई अग्नि में जलते रहे और देश लूट गया।	→	सत्ता, धर्म व वर्ग संघर्ष जिसने राष्ट्रीय पराधीनता का श्री गणेश किया।

भरत क्षेत्र की सभ्यता के निम्न सोपान नजर आते हैं–

संस्कृ ति का विकास भी इन सोपानों के साथ नजर आता है। तथाकथित अंधयुग की पर्तें केवल जैन पुराण खोल सकते है। संदर्भ नेमिनाथ व कृष्ण काल के स्पष्ट रूप से प्राप्त हैं। इसे यूं समझा जा सकता है कि उस युग में भारत के मध्यांचल, पश्चिमांचल मे वैदिक सभ्यता का प्रभाव बढ़ चुका था। पूर्वांचल व दक्षिणांचल में वैदिक सभ्यता का प्रभाव सीमित था। दक्षिण में द्रविड़ नाग व पूर्व में श्रमण सभ्यता का प्रभाव था। संभवतः विचार भिन्नता के कारण या आबादी के स्थानांतरण के कारण वैदिक ऋचाओं के प्रणयन के साथ वैदिक सभ्यता का उदय सिंधु, सरस्वती घाटी में हुआ। पश्चिमांचल में नाग, द्रविड़ दबाव व पूर्व के श्रमणों से मेलजोल के कारण तथा विदेशी आक्रमणों के दबाव के कारण एक मिश्रित सभ्यता का उदय हुआ जिसे हम भारतीय सभ्यता कहते हैं।

हड़प्पा प्रकार की जीवन शैली में वे सब बातें थी जो हमारे पुराणकारों ने वर्णित कीं हैं। जिन्हें श्रमण सभ्यता का आधार कहा जाता है। यह कोई अतिशयोक्ति पूर्ण संदर्भ संकलन नहीं है। इन संकेतों की सृष्टि कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। यह उन विचारों और परंपरा की अभिव्यक्ति थी जिसने सिंधु जीवन शैली का गठन किया था। यहाँ एक बात स्मरण कर लेना ठीक रहेगा कि सिंधु(हड़प्पा) प्रकार की जीवन शैली केवल सिंधु घाटी में नहीं थी, उसका विस्तार संभवतः सम्पूर्ण भारत में था। इन क्षेत्रों मे उत्खननकर्त्ताओं ने ऐसी सभांवना व्यक्त की है। श्रमण सभ्यता के विस्मृत होते इन सोपानों को सामने रखने पर ही भारत का इतिहास अनावृत हो सकेगा।

गत 1000 वर्षों से श्रमण सभ्यता के आध्यात्मिक सोपान बाह्य क्रिया कलापों में उलझ गये– जिसने श्रमण सभ्यता को तथा कथित जैन सभ्यता मे बदल दिया जो चरित्र और चितंन से खिसककर बाह्य क्रिया कलापों मे केन्द्रित हो गई। विचारों के इस पड़ाव पर यह स्पष्ट होना चाहिए कि श्रमण सभ्यता किसी राजा महाराज या किसी एक महापुरुष के मार्गदर्शन में आगे नहीं बढ़ी। यह तो कई-कई तीर्थंकरों, कई-कई आचार्यों और श्रावकों की संयुक्त साधना का परिणाम है।

कहीं यह पुरुषार्थ के क्षितिज के ऊपर है और कहीं यह भावनाओं की गहराई में हैं। कहीं यह ध्यान में है और कहीं यह मौन में रची बसी है। सब से ऊपर यह सबके अस्तित्व की आवाज है। जहां-जहां, जिस-जिसके हृदय में प्रेम-दया-करुणा और क्षमा का वास है वहां-वहां श्रमण सभ्यता है। हो सकता है हम इसे काल रेखा से न जोड़ पायें पर इसका सर्वतोमुखी-सर्वव्यापी अस्तित्व है। यह स्वयं सिद्ध है। भले ही अभी यह नहीं दिखाई दे रही हो पर मानवता का भविष्य यही है।

संदर्भ -

1. (अ) 'महापरिव्वान - सुत्तन्त' बौद्ध ग्रंथ में उल्लेख है कि वज्जि देश और वैशाली में अर्हत चैत्यों का अस्तित्व था जो बुद्ध पूर्व अर्थात महावीर पूर्वकाल से विद्यमान थे। चौथी शती ईसा पूर्व से हमें जैन मूर्तियों, गुफा, मंदिरों और निर्मित देवालयों या मन्दिरों के अस्तित्व के प्रत्यक्ष प्रमाण मिलने लगते हैं।

(ब) मोहन जोदड़ों से प्राप्त मुहर पर उकेरी कायोत्सर्ग मूर्ति पर यदि हम अभी विचार न करें तो भी लोहानीपुर की मौर्ययुगीन तीर्थंकर प्रतिमायें यह सूचित करती हैं कि इस बात की सर्वाधिक संभावना है कि जैन धर्म पूजा हेतु प्रतिमाओं के निर्माण में बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म से आगे था। बौद्ध या ब्राह्मण धर्म से संबंधित देवताओं की इतनी प्राचीन प्रतिमायें अब तक प्राप्त नहीं हुई हैं।

- अमलानन्द घोष
'जैन कला एवं स्थापत्य' भाग 1, पृष्ठ 4

प्राप्त : 14.09.11

वर्ष - 24, अंक - 1, जनवरी - मार्च - 2012, 57-60

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

धार संग्रहालय की परमार कालीन जैन प्रतिमाएं

■ अरविन्द कुमार जैन * एवं संगीता मेहता **

सारांश

म.प्र. राज्य का धार जिला पुरातात्विक सामग्री से समृद्ध है। इसी कारण लार्ड कर्जन की प्रेरणा से 1902 में धार संग्रहालय की स्थापना की गई थी। यही संग्रहालय वर्तमान में जिला पुरातत्व संग्रहालय धार के नाम से विख्यात है। यहाँ संग्रहीत 10 अभिलिखित परमारकालीन जैन प्रतिमाओं का विवरण प्रस्तुत आलेख में अंकित है।

जिला पुरातत्व संग्रहालय-धार वर्तमान मध्यप्रदेश का सबसे प्राचीन संग्रहालय है। प्राचीन धारा नगरी का पुरातत्वीय वैभव तो बहुत समय पूर्व से ही लोगों को ज्ञात था लेकिन इस नगरी में यहां के अवशेषों की खोज का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है। धार रियासत में महाराजा आनन्दराव पंवार तृतीय के शासन काल में इनके सद्प्रयत्नों से 1872 से ही धार स्टेट के पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक सामग्री की खोज संबंधी कार्यवाही प्रारम्भ की गई। इन्हीं के समय महल की खुदाई करते समय 1874 ईस्वी में कुछ कलाकृतियां एवं पुरातत्व अवशेष मिले थे। उन्हीं दिनों 1875 ईस्वी में मोपावर ऐजेंसी के पोलिटिकल एजेन्ट मेजर किकेड जब धार आये थे तब उनके द्वारा इन उपलब्धियों की खबर दी गई एवं उन्होंने स्वयं रुचि ली और अनेक कलाकृतियों को एक स्थान पर संग्रहीत किया गया। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि किकेड के समय किये गये संग्रह में भोजशाला की प्रसिद्ध सरस्वती प्रतिमा भी थी। जिसे बाद में लंदन भेज दिया गया।[2] मध्य भारत (सेन्ट्रल इंडिया) के तत्कालीन पोलिटिकल एजेंट केप्टन बार्नेट ने भी धार स्टेट की पुरातत्वीय एवं ऐतिहासिक सामग्री का अध्ययन एवं अनुक्रम रखने में विशेष रुचि ली और उनके सहयोग से धार रियासत के इतिहासकार राज्यरत्न पं. के.के. लेले ने कमाल मौला मस्जिद (भोजशाला) की शिलाओं पर अंकित अनेक शिलालेख खोज निकाले।[3]

पं. के.के. लेले की खोज तत्कालीन भारतीय पुरातत्व की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। डॉ. फ्यूरर बूलर, सर जे.ए. केम्पवेल, प्रो. पिशल व कीलहार्न, राय बहादुर हीरालाल ओझा, डॉ.डी.आर. भण्डारकर तथा हीरालाल जी आदि पुराविद् इस खोज से अत्यधिक प्रभावित हुए। ई. सन् 1874 में माऊ दाजी ने भगवान लाल इन्द्रजी को शिलालेख के छापे लेने के लिए धार भेजा। सन् 1875 में डॉ. व्यूलर मैनेजर डॉ. फ्यूरर भी धार आए। ई. सन् 1895 में सर जे.ए. कैम्पवेल ने अपने सहायक पेजुल्ला खां को लेकर पुरात्तवीय खोज को देखने के लिए इस नगरी की यात्रा की इस प्रकार 1872 मे जिस पुरातत्वीय खोज का आरम्भ हुआ। वह सन् 1900 ई. तक पूर्णरूपेण चलती रही। पोलिटिकल एजेंट केप्टन बानेट ने (1900-1904) धार और माण्डू पर अध्ययन करके परिचय पुस्तिका तैयार की। लार्ड कर्जन को पुरातत्व में विशेष अभिरुचि थी। उनकी प्रेरणा से एकत्रित की गई सामग्री को सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से सितम्बर 1902 में धार नगर में धार रियासत द्वारा जागरूकता का प्रदर्शन कर पुरातत्व संग्रहालय की स्थापना की गई और उसी वर्ष जब

* शोध छात्र एवं प्रबन्धक, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर 452001
** प्राध्यापक - संस्कृत, अटलबिहारी बजपेयी शास. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, इन्दौर

कर्जन धारा नगरी आए तब उन्होंने यहां के अवशेषों और पुरातत्वीय खोजों के प्रति अपनी हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की। पुरातत्व संग्रहालय के प्रमुख धार रियासत के शिक्षा अधीक्षक श्री के.के. लेले बनाये गये। धार रियासत में संग्रहालय पुरातत्व विभाग की स्थापना के पश्चात पं. लेले के दोनों सहायकों श्री व्ही.के. लेले व मुंशी अब्दुल रहमान ने अनेक स्थलों एवं स्मारकों के सर्वेक्षण का कार्य सम्हाला। इसी तारतम्य में आनन्द हाई स्कूल में एक पुरातात्विक संग्रहालय की स्थापना की गई। उस समय इस संग्रहालय में हिन्दू व जैन कलाकृतियों के अलावा हिन्दू एवं मुस्लिम वास्तु विन्यास के प्रस्तर खंड, संस्कृत व पर्शियन के अभिलेख, सिक्के, पुस्तके तथा अन्य सामग्री को एकत्रित करके प्रदर्शित किया गया था। स्कूल में सुविधा जनक स्थान न मिलने के कारण कालान्तर में इसे स्थानांतरित कर दिया गया तथा पूर्णतः व्यवस्थित रूप से कलाकृतियों का प्रदर्शन किया गया। धार रियासत की पुरातत्वीय शोध की परम्परा को प्रो. ए.डब्ल्यू वाकणकर डॉ. हर्षन वाकणकर एवं आर.के. देव आदि ने बड़े उत्साह के साथ आगे बढ़ाया। धार नगरी का पुरातत्व अत्यन्त प्राचीन है। ईस्वी सन् 1956-57 में डेक्कन कॉलेज (पोस्ट ग्रेजुएट इंस्टीट्यूट) पूना के श्री ए.पी. खत्री को सर्वेक्षण के दौरान धार में ताम्राश्म युगीन सभ्यता के अवशेषों के साथ-साथ कुछ अत्यन्त सुन्दर चित्रित मृद भाण्ड भी प्राप्त हुए थे।[4] वर्ष 1977 में डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर को भी रोमन बुले और कुछ अन्य कुषाण कालीन अवशेष की प्राप्ति हुई। ये सारी उपलब्धियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि धार की धरती के नीचे भी पुरातत्वीय वैभव भरा पड़ा है।[5]

संग्रहालय में पाषाण प्रतिमाओं का विशाल संग्रह है, जिनमें से दस अभिलिखित जैन प्रतिमाओं का विवरण प्रस्तुत लेख में किया जा रहा है -

आदिनाथ - प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की यह प्रतिमा धार से प्राप्त हुई है। पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में निर्मित है। अब केवल पादपीठ शेष है। पादपीठ पर तीर्थंकर आदिनाथ का ध्वज लांछन वृषभ (बैल) का अंकन है। पादपीठ पर विक्रम संवत् 1331 (ईस्वी सन् 1247) का चार पंक्तियों का लेख उत्कीर्ण हैं, जिसकी लिपि नागरी भाषा संस्कृत है। लेख में प्रतिष्ठा करने वाला श्रावक का नाम अंकित है तथा वह संवत् 1331 में प्रतिष्ठा कराकर इसे नित्य प्रणाम करता है।[6] लेख का पाठ इस प्रकार है -

सं. (संवत्) 1331 वर्षे.............

प्रणमति नित्य श्री ॥

पदमप्रभ - छठे तीर्थंकर पदमप्रभ की यह प्रतिमा धार से प्राप्त हुई है। (स.क्र. 719) पद्मासन मुद्रा में अंकित है। तीर्थंकर के सिर पर कुन्तलित केशराशि, लम्बे कर्ण चाप, वक्ष पर श्री वत्स चिन्ह है। पादपीठ अलंकृत है। संगमरमर पत्थर पर निर्मित 100 x 78 x 51 से.मी. आकार की प्रतिमा के पादपीठ पर लगभग 12वीं शती ईस्वी का एक पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है, जिसकी लिपि नागरी भाषा संस्कृत है।[7] लेख में प्रतिमा पदमप्रभ तीर्थंकर की बताई गई है।[8] लेख का पाठ इस प्रकार है-

.... श्री पदमप्रभ देवः ॥

चन्द्रप्रभ - आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की यह प्रतिमा धार से प्राप्त हुई है। (स.क्र.84) पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में अंकित है। तीर्थंकर का वक्ष से ऊपर का भाग भग्न है। पादपीठ पर चन्द्रप्रभ का ध्वज लांछन अर्द्धचन्द्र का अंकन है। वेसाल्ट पत्थर पर निर्मित पर 40 x 60 x 27 सें.मी. आकार की प्रतिमा के पादपीठ पर लगभग 12वीं शती ईस्वी का एक पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है,

जिसकी लिपि नागरी भाषा संस्कृत है। लेख का पाषाण छिल गया है। लेख का पाठ इस प्रकार है-

संवत् .... माघ .... र्य .... [9]

शान्तिनाथ - सोलहवें तीर्थंकर शांतिनाथ की प्रतिमा बदनावर जिला धार से प्राप्त हुई है। (स.क्र.42-69) तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित है। तीर्थंकर प्रभामण्डल, लम्बे कर्ण चाप, वक्ष पर श्रीवत्स से सुसज्जित है। पादपीठ पर दोनों ओर चंवरधारी शिल्पांकित हैं। इनके एक हाथ में चंवर दूसरा हाथ कट्टयावलम्बित है। वैमुकबुट, कुण्डल, हार, मेखला आदि आभूषणों से सुसज्जित है। पादपीठ पर तीर्थंकर शांतिनाथ का ध्वज लांछन हिरण का रेखांकन है। काले पत्थर पर निर्मित 125 x 61 x 30 सें.मी. आकार की प्रतिमा के पादपीठ पर विक्रम संवत् 1332 (ईस्वी सन् 1275) का दो पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है। जिसकी लिपि नागरी, भाषा संस्कृत है। लेख में इस प्रतिमा की संवत् 1332 में प्रतिष्ठा कराने वाले उसे नित्य प्रणाम करते है।[10] लेख का पाठ इस प्रकार है -

(संवत्) 1332 वर्षे ....

.... एत (एते) प्रणम (म) ति नित्यं।

शान्तिनाथ - तीर्थंकर शांतिनाथ की यह प्रतिमा धार से प्राप्त हुई है (सं.क्र.85)। कायोत्सर्ग मुद्रा में शिल्पांकित है, किन्तु दोनों हाथ भग्न है। तीर्थंकर के सिर पर कुन्तलित केश, लम्बे कर्णचाप व वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन है। दोनों और चंवरधारी खड़े हैं, जो एक हाथ में चंवर दूसरा हाथ कट्यावलाम्बित है। ग्रेनाईट पत्थर पर निर्मित 120 x 40 x 24 से.मी. आकार की प्रतिमा के पादपीठ पर लगभग 12वीं शती ईस्वीं का एक पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है, जिसकी लिपि नागरी भाषा संस्कृत है। लेख में माथुरान्वय के आचार्य माधव चन्द्र संवत् .... माघ वदि पंचमी को प्रतिष्ठा सम्पन्न करके प्रतिमा की वन्दना करते है।[11] लेख का पाठ इस प्रकार है -

.... माघ वदि 5 माथुर .... (अन्वये) प्रणमति आचार्य माधवचंद्रो।

मुनि सुव्रतनाथ - बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ की यह प्रतिमा धार से प्राप्त हुई है। पद्मासन मुद्रा में निर्मित तीर्थंकर का पादपीठ ही है। पाषाण पर (ईस्वी सन् 1166) का लेख उत्कीर्ण है, जिसकी लिपि नागरी भाषा संस्कृत है। लेख में हजार संख्यक अंक का पाषाण खंडित हो गया है, इसमें संवत् 1223 माघ सुदि सप्तमी को प्रतिष्ठा कराकर प्रतिष्ठाकारक नित्य प्रणाम करता है।[12] लेख का पाठ इस प्रकार है - संवत् (1) 223 वर्षे माघ सुदि 7.... प्रणमति नित्यं।

तीर्थंकर - लांछन विहीन तीर्थंकर की यह प्रतिमा धार से प्राप्त हुई है। (सं.क्र.72) पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में तीर्थंकर प्रतिमा के सिर पर कुन्तलित केश, लम्बे कर्ण चाप, वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन है। संगमरमर पत्थर पर निर्मित 110 x 89 x 50 सें.मी. आकार की प्रतिमा के पादपीठ पर लगभग 12वीं शती ईस्वी का लेख उत्कीर्ण है। जिसकी लिपि नागरी भाषा संस्कृत है।[13] लेख का पाठ इस प्रकार है -

.... आचार्य प्रणमति ....

तीर्थंकर - यह तीर्थंकर प्रतिमा धार से प्राप्त हुई है। (सं.क्र. 77) पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में है। तीर्थंकर का सिर व हाथ भग्न है। पत्थर पर निर्मित 60 x 30 x 53 सें.मी. आकार की प्रतिमा के पादपीठ पर लगभग 12वीं शती ईस्वी का लेख उत्कीर्ण है जिसकी लिपि नागरी भाषा संस्कृत है।[14] लेख का वाचन इस प्रकार है।

श्री लाट वागर संघे पंडिताचार्य श्री कलवडाः ।। श्री
गर्दनीय गेसवादि ल चुतऊ आके प्रणमति नित्यं ।

तीर्थंकर - यह तीर्थंकर प्रतिमा धार से प्राप्त हुई है। (स.क्र. 90) स्तम्भ युक्त गवाच्छ के अंदर तीर्थंकर अंकित है। सिर पर कुन्तलित केश, लम्बे कर्ण चाप, वक्ष पर श्रीवत्स है। दांयी तरफ मकर व्याल व बायी तरफ सिंह व्याल का अंकन है। काले पत्थर पर निर्मित 25 x 33 x 16 सें .मी. आकार की प्रतिमा के पादपीठ पर लगभग 12वीं शती ईस्वी का एक पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है, जिसका अंतिम अंश मात्र सुरक्षित है। शेष लेख भाग का पाषाण टूट गया है, लेख की लिपि, नागरी, भाषा-संस्कृत है।[15] लेख का पाठ इस प्रकार है -

.... प्रणमति नित्यं ।

तीर्थंकर के पैर - तीर्थंकर प्रतिमा के पैर से संबंधित शिल्पखंड धार से प्राप्त हुआ है। (सं.क्र. 81) इस प्रतिमा की केवल जंघा एवं आसन मात्र शेष है। काले पत्थर पर निर्मित 78 x 56 x 17 से.मी. आकार की प्रतिमा पर लगभग 12वीं शती का एक पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है, जिसकी लिपि नागरी भाषा संस्कृत है। लेख में केवल लिंगसुत पंडिताचार्य पढ़ा जा सका है।[16] लेख का पाठ इस प्रकार है -

.... पंडिताचार्य लिंग सुत ....

धार संग्रहालय में सुरक्षित अभिलेखित परमार कालीन प्रतिमाएं काफी महत्वपूर्ण है। इन प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों से प्राचीन धारा नगरी एवं निकटवर्ती बदनावर प्राचीन वर्धमानपुर में परमार काल में जैन मूर्तिकला एवं जैन धर्म के प्रसार-प्रचार पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

संदर्भ सूची –

1. Report on Archaeological work in Dhar State, 1902-3
2. लन्दन में इस प्रतिमा की सर्वप्रथम पहिचान राय बहादुर के.एन. दीक्षित ने की थी। कलकत्ता से प्रकाशित रूपम पत्रिका (1924 पृष्ठ 3 पर) में उन्होंने उसका परिचय भी छपवाया।
3. Epigraphia India, जिल्द 3 पृष्ठ 96 ।
4. Indian Archaeoclogy : A Review, 1956-57 पृष्ठ 9-10 ।
5. चन्द्रवंशी डी.एन. सिंह, जिला संग्रहालय धार, Malwa through the Ages (एम.डी.खरे द्वारा सम्पादित) भोपाल 44-45
6. जैन कस्तूर चन्द्र 'सुमन', भारतीय दिगम्बर जैन अभिलेख और तीर्थ परिचय : मध्यप्रदेश 13वीं शती ईस्वी तक, दिल्ली 2001, पृ. 287, क्रं. 280
7. पाठक नरेश कुमार, 'मध्यप्रदेश का जैन शिल्प', इन्दौर, 2001, पृष्ठ 42
8. जैन कस्तूर चन्द्र 'सुमन' पृष्ठ 242-43 क्रमांक 233
9. पाठक नरेश कुमार, पृष्ठ 42 एवं जैन कस्तूर चन्द्र 'सुमन' पृष्ठ 242 क्रमांक 232
10. जैन कस्तूरचन्द्र 'सुमन', पृष्ठ 288 क्रमांक 281 एवं पाठक नरेश कुमार, पृष्ठ 42
11. पाठक नरेश कुमार, पृष्ठ 43 एवं जैन कस्तूरचन्द्र 'सुमन' पृष्ठ 241 क्रमांक 230
12. जैन कस्तूर चन्द्र 'सुमन', पृष्ठ 192 क्रमांक 178 एवं पाठक नरेश कुमार, पृष्ठ 42
13. पाठक नरेश कुमार, पृष्ठ 44 एवं जैन कस्तूर चन्द्र 'सुमन' पृष्ठ 239 क्रमांक 227
14. पाठक नरेश कुमार, पृष्ठ 41
15. जैन कस्तूरचन्द्र 'सुमन', पृष्ठ 241-42
16. जैन कस्तूर चन्द्र 'सुमन', पृष्ठ 240 क्रं. 229

प्राप्त : नवम्बर 2011

Vol. - 24, Issue 1, January - March, 2012, 61-66

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapīṭha, Indorer

Economic Organization under Jainism

■ Ganesh Kawadia* & Anupam Jain**

Abstract

The principle of economics was developed for betterment of mankind but in the process we lost the dream of kind man. There is thus a need to develop a new form of economic organization or economic order which can help us in achieving the target of nature friendly sustainable development, free from any type of exploitation, the real Humanomics. The religious path or the path of non violence can help us in designing the economic organization which can ensure the development and the ultimate happiness for all. This paper is an attempt to identify the jain principles which can help us in building the new world economic order based on overall development of human beings i.e .the economic organization for Humanomics.

The ancient societies and communities were so small and fragmented that the economic activities were mainly family managed. The economic development in such societies was completely independent of external factors. The economic organization required for societies of those times was completely of endogenous type. The problem of poverty, unemployment and disparities in those societies therefore were not evolved in the form of social evils of economic organizations. The ancient philosophies and religion thus had not focused much on the creation of economic organization required to achieve the target of religion. They have just prescribed certain code of conduct in terms of dos and don'ts for achieving the targets of spiritual life. They were just prescriptions for Ātmā. But the industrial revolution of the west has changed the structure of economic activities which was based on large scale production and the need for large markets to sale the produced goods. This created the need for different types of economic organization to fulfill the requirements of that economy. The organizations which had evolved over the time to serve the requirements of industrialization were landlordism, feudalism, capitalism, communism, socialism etc. All these types of organizations which gained ground over the last two- three centuries or so have been emphasizing on production and consumption for curing social evils specially poverty and unemployment. Production was assumed as, a panacea for all economic and social issues. All these forms of economic originations were basically planning to maximize the production or consumption. The focus

* Professor and Head, School of Economics, Devi Ahilya University, INDORE-452001

** Professor and Head, Department of Mathematics, Govt. Holkar Autonomous Science College, Indore-452001

of these organizations was the growth of industrialization. They in this course have failed to produce the desired results and nor have approached towards the objectives of human welfare as advocated by Marshall (1890) in his classic book on economics. They rather have all aggravated the problems of poverty, unemployment and disparity over time. In fact, all the social tensions are the results of these economic organizations. They are the cause of social tension but claim as cure for the same. These types of organizations thus have no strength to solve these problems and create a society for over all development of human beings and ecology. The present day economics therefore have no capacity to create Humanomics.

Basis of Economics

The famous Kautilya's arthaśāstra is essentially a compilation of sort of civil code which prescribes duties for the king and several ideals for the king. Unlike present day economics, kautilya did not carry out studies of mans economic behavior, but since the large part of his writings are dedicated to welfare, the work thus regarded as one of the oldest works of economics. The basic principle of the economics is based on the assumption of self interest and exploitation of natural resources for creation of wealth of nation to improve the standard of life of the citizens (Adam Smith 1776).. As a result, they along with economic growth and production created many problems in terms of over exploitation of natural resources, global warming, unequal distribution of wealth and many related issues. Therefore every solution or economic activity gives rise to new problems for the society or to the eco system, reflected in terms of gender exploitation, water and soil pollution, poverty, global warming, economic meltdown and conflicting issues between rich and poor countries. The principle of economics was developed for betterment of mankind but in the process we lost the dream of kind man. There is thus a need to develop a new form of economic organization or economic order which can help us in achieving the target of nature friendly sustainable development, free from any type of exploitation, the real Humanomics. The religious path or the path of non violence can help us in designing the economic organization which can ensure the development and the ultimate happiness for all. This paper is an attempt to identify the jain principles which can help us in building the new world economic order based on overall development of human beings i.e. the economic organization for Humanomics.

The Humanomics

This new economic order should be able to differentiate good from goods. The jain theory of limitation of desires and possessions (*icchā-parimāṇa* and parimita parigraha) can help us in defining the use of resources for our basic needs. This is not an abstract idea but a way of life in jain philosophy. Jain texts give a detailed account of this control in terms of code of conduct for the family

called *aṇuvṛatas* and list them in five categories for imposing self control on the use of resources for self consumption. This *aṇuvṛata* explains the direction of needs for family and quality of life. The aim of this action is to discreetly control one's limitless desires and possessions which put them in the endless race of activities. Jainism offers a therapeutic solution to the modern life of tensions and anxieties through its principle of aparigraha. Truthfulness and honesty are the prerequisites for practice of aparigraha. The Jainism, thus advocates that ownership of production structure which does not give a feeling of possession. The entrepreneur thus acts as a trusty for the society or even for the entire ecosystem. Thus focus in such organization is on the rationality in the planning and use of resources. Through various *karmadans* (avoidable vocations), it advocates the form of economic organisation which promotes harmonious, equity and justice based societies with no scope for exploitation. Religion as a tool of economic advancement can lay down high moral codes which respects each other's right to property and freedom of practicing one's own trade of business. The inner life of an individual is more valuable than any thing that a state can guarantee. The code of conducts thus focuses on the satisfaction of inner life and betterment of soul i.e. *ātmā*. The selection of occupation thus is very important in the achievement of the target of life.

Impact of Jain Philosophy on Occupation:

Non-violence was the basic thrust of *Mahāvīra's* teachings (Acharya Mahaprajna, 2001), and therefore the *atīcārs* (violations) explains the avoidable occupations by a *Śrāvaka* (follower),there were several industries/occupations which were considered avoidable. The 15 karmādānas (avoidable vocations) give the guidance for the selection of occupations. The classification is not based on *varṇa* but derived on the basis of its relationships with nature and ecology. They give direction for such occupations which have least damaging impact on the nature and environment. The jainsim thus advocates nature and environment friendly occupation. The entire world is now talking for the need of such economic development. The various karmādānas are as follows : (See Bhagavatī Sūtra, Vol-3, śataka - 8, Udeśaka - 5, sūtra 242). These fifteen karmādāna are also known as kharakarma or krūrakarma in sāgaradharmāmṛta.

Sr. No.	Name	Meaning	Explanation
1.	Aṅgāra Karma	Activities relating to fire	Engaging in those occupations that require excessive use of fire such as putting up brick kilns; running factories for making soap and oil and for making matchboxes and

			crackers and engaging in industries to make alkalis like washing soda and ashes.
2.	Vanakarma	Activity related to cutting of trees etc.	Engaging in business activities that necessitate cutting of green plants and trees, such as getting a jungle cut; peeling fruits; making gum etc or running.
3.	Śākata Karm	Manufacturing and selling of vehicles	Bullock carts, tongas, motor vehicles, cars, buses, taxies, rickshaws
4. 5.	Bhātī Karma Sphota Karma	Giving vehicles/ cattle on hire Engaging in activities such as blasting the earth or breaking stones	Or existing only on the hire money obtained thus. Cutting them into pieces ; making a tank by digging the earth; cutting tunnels; digging wells or digging the land; getting tunnels made etc.
6.	Danta Vāṇijya	Business in ivory	Carrying on business in ivory; engaging in business activities in respect of musk, the hides of animals and the feathers of birds
7.	Lākṣā Vānijya	Business relating to wax (Lākha)	Carrying on business in lāka or wax or alkalis that necessitate killing of too many creatures; manufacturing glue; engaging in industries for making soap and other detergents
8.	Keśa Vāṇijya	Carrying on business in hair	Carrying on business in selling the hair of human beings or animals and dealing in cattle.

9. 10.	Rasa Vāṇijya Viṣa Vāṇijya	Business relating to rasas or tasty liquids etc. Business in poisons	Making ghee, oil, butter and honey, alcoholic drinks and selling them Manufacturing different kinds of poisons or poisonous substances or destructive weapons and dealing in them.
11.	Yantrapīlana Karma	Relating to machinery	Running industries with various kinds of machines selling them or getting them run for hire.
12.	Nirlāncana Karma	Relating to animals and birds	Cutting the limbs of animals and birds, drenching them in water or castrating them
13.	Dava Dāha Karma (Dauggidāvaṇaya)	Burning and demolition	Setting fire to things or burning things such as forests, houses etc., out of enmity or spite
14.	Saradahatalāya Sosaṇayā	Drying up of wells,ponds Etc.	Drying up the ponds for irrigation of crop.
15.	Astījana poṣaṇatā	Running a brothel for livelihood	Keeping animals, birds etc. and showing them as an amusement for earning money. Carrying on business in meat, eggs etc.

Historians feel that the Jain community abiding by the above prohibitions could not engage itself in several occupations, such as farming, industry, mining etc which damages environment. It thus advocates the bane on such farming which degrade soil or bane industry which pollutes environment or bane the activities which exploits the child or female. The economic activities under jainisim nurtures nature and environment. One of the reasons why there is a dominant concentration of Jains in indigenous money-lending and hire purchase is because money-lending business does not anywhere violate any of the above prohibitions. The occupations which exploit others, which pollutes environment, which damages environment and soil are all prohibited through code of conducts. It thus allows only those occupations which are not only free from violence but

also protects the environment and ecology. It is not the income but the Green income maximization concept is the key of Jainism. Thus the Jain philosophy propounded a life of absolutely no possession to a monk or to a household. There are codes of good conduct and limits of possessions for those who follow 'Deśavṛata' (renunciation of limited rigor). The violations of the rule of non-possession are essentially curbing of one's worldly possessions. A person committing essentially theft not only injures the purity of his own soul but also causes pain to the other by taking his thing or property. Truthfulness and honesty are the pre-requisites for practice of aprigraha. In the abstract, attachment is itself aprigraha. Without mental detachment for possession of living and non-living objects, he should atleast limit them. Such a limitation checks greed which is the main inspiration for acquisition.

Conclusions

The Jain form of economic organization would thus be based on ethical values and nonviolence. The focus will be on long-run and not on short-run for planning economic growth. It will thus target not only the present generation but also the generations to come. It will have a space for all living and non-living things of the entire eco-system. This form of economic organization would thus be like spiritual socialism where ultimate aim of life is "ātam kalyāṇa" and happiness for all. Jainism offers a therapeutic solution to the modem life of tensions and anxieties through its principle of aprigraha. Truthfulness and honesty are the prerequisites for practice of aprigraha. This form of economic organization prohibits the occupations which exploit others, which pollutes environment, which damages environment and soil all through code of conducts. It thus allows only those occupations which are not only free from violence but also protects and nurtures the environment and ecology. It therefore has strength to develop Humanomics and kind men in true sense. There is thus a need to explore the nature of economic organization based on jain principles to present a solution to the current crises of exploitations, social conflicts and global warming.

References:

Adam Smith(1776): An Enquire into the Nature and Causes of Wealth of Nation,

Marshall, A.(1890): Principles of Economics,

Ācārya *Mahāprajña* (2001): Economics of Lord Mahāvīra, Jain Vishwa Bhārtī, Ladnun-241306

Bhagavai (Viāhapaṇṇattī) Vol-3, Acharya Mahaprgya, Jain Vishva Bhārati Ladnun-241306

Received : Feb. 2011

Vol. - 24, Issue 1, January - March, 2012, 67-74

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapīṭha, Indorer

Relevance of Forgiveness for Psychological Well-Being of Humanity

■ Dr. Saroj Kothari*

Abstract

Forgiveness is a healing journey for body and soul. Many of the world religions have advocated the concept of forgiveness as a productive response to transgression. Forgiveness is a willful process in which the forgiver chooses not to retaliate but rather responds to the offender in a loving way. The psychological literature tends to focus on the benefits of forgiveness for the forgiver and the role of forgiveness in the therapeutic and healing process. The psychological response that is forgiveness includes the absence of negative effect, judgment, and behaviour towards the perpetrator and the presence of positive effect, judgment and behaviour. Forgiveness is a suite of prosocial motivational changes that occur after a person has incurred a transgression. People who are inclined to forgive their transgressors tend to be more agreeable, more emotionally stable, and more spiritually or religiously inclined. When people forgive, the probabilty of restoring benevolent and harmonious interpersonal relations with their transgressors is increased.

Psychological well-being is the state of feeling healthy and happy, having satisfaciton, relaxation. pleasure, and peace of mind. Psychological well-being includes majority of characteristics of the healthy person; a sense of control, realistic beliefs, spontaniety and emotional responsiveness, intellectual stimulation, problem solving, creativity and sense of humor. When people forgive a transgressor, they become less motivated by revenge and avoidance and more motivated by benevolence toward the transgressor.

The present study examined the role of forgiveness in determining psychological well-being of adults. Transgression-Related Interpesonal Motivations (TRIM-18) Inventory (McCllough,1998) and Psychological Well-Being (PWB) Scale (Ryff,1995) were used. The results revealed that forgiveness is a central component of psychological well-being and that it affects all the dimensions of psychological well-being i.e. autonomy, environmetal mastery, personal growth, positive relations with others, purpose in life, and self acceptance in positive terms.

* **Professor & Head, Department of Psychology, Government M.L.B. P.G. Girls College, Indore (M.P.)**

Introduction :

Relating to others-whether strangers, friends, or family-inevitebly exposes people to the risk of being offended or harmed by them. Throughout history and across cultures, people have developed many strategies for responding to such transgessions. Two classic responses are avoidance and revenge-seeking distance from the transgressor or opportunities to harm the transgressor in kind. These responses are common but can have harmful and negative consequences for individuals, relatives and perhaps society as a whole. Psychologists have been investigating interpersonal transgressions and their aftermath for years. However, many of the world's religions have advocated the concept of forgiveness as a productive response to such transgressions, (McCullough & Worhtington,1999)

Forgiveness is a healing journey for both the body and the soul. The first definition for ''forgive'' in Webster's New Universal Unabridged Dictionary(1983) is ''to give up resentment against or the desire to punish; to stop being angry with; to pardon". Studzinski (1986) defines forgiveness as a willful process in which the forgiver chooses not to retaliate but rather respond to the offender in a loving way. Forgiveness is further described in the psychological literature as a powerful therapeutic intervention and as an intellectual exercise in which the patient makes a decision to forgive (Fitzgibbons,1986). In defining forgiveness, the psychological literature tends to focus on the benefits of forgiveness for the forgiver and the role of forgiveness in the therapeutic and healing process, Rowe(1989) emphasizes that the experience of forgiveness is spiritual or transpersonal as well as interpersonal. Canale (1990) views forgiveness as a therapeutic agent in psychotherapy and considers the cognitive dimension of forgiveness. Subkoviak (1992) defines forgiveness from a psycholgical perspective that forgiveness involves the affective, cognitive and behavioural system, that is, how a person forgiving another feels, thinks and behaves towards him or her. The psychological response that is forgiveness includes the absence of negative affect, judgment, and behaviour toward the perpetrator and the presence of postive effect, judgment and behaviour. Forgiveness is a suite of prosocial motivatonal changes that occurs after a person has incurred a transgression. People who are inclined to forgive their transgressors tend to be more agreeable, more emotionally stable, and more spirtitully or religiously inclined. When people forgive, the probability of restoring benevolent and harmonious interpersonal relations with their transgressors is increased.

for-give= 'give-for' = to give undeserved gifts. It is about 'giving for' someone when they are powerless to give by themselves-transforming the condition and stituation of people and organisations who have lost power or been denied it. It means forgiveness is creative and pro-active. Forgiveness can

be likened to wearing spectacles with a type of bi-focal lens. On the one hand, we can focus on the scale of the wrong that someone has done and at the same time-we also see and contribute to the loveliness, life and wellbeing of the wrongdoers.

The act of forgiveness is something everyone can learn, though it usually takes time. Genuine forgiveness rather than mere excusing someone is the hardest action in the whole world. We are all fairly good at excusing minor annoyances, but when we are hurt unfairly and deeply by someone we love forgiveness often seems almost impossible. Many divorces occur due to a long series of minor and major hurts that the people concerned never forgave. The bare essence of forgiveness is being willing to give up the resentment and the desire to punish, and to give up the anger that you feel towards a person or an act.

Forgiveness is not merely a soft attitude toward a harsh act; forgiveness is the vital action of love, seeking to restore the harmony that has been shattered. Forgiveness means that we are not going to allow the experiences of the past to dominate our future.

Steps of forgiveness

a. Remembering in detail what happened and how it made you feel
b. Understanding the other person
c. Identifying the reasons that prevent you from being forgiving.
d. Choosing to accept the responsibility for your life and choosing to detech yourself from your expectations and the reasons that keep you from being forgiving
e. Creating the act of release as a ritual of letting go and forgiving, for example, shaking hands, hugging, burning lists of what the others person did wrong. Clinical psychology has focused primarily on the diagnosis and treatment of mental disease, and only recently has scientific attention turned to understanding and cultivating positive mental health. Quality of life has been used interchangeably with such terms as well-being, psychological well-being, happiness, life-satisfaction, positive and negative effect, and the good life (Cheng, 1988, Evans, 1994, George, 1992). Well-being is not just about the lack of disease or illness or the absence or anxiety or depression. Well-being is a state of complete physical, mental and social health. In 1958 the public health specialist Dr. Halbert L Dunn wrote about 'high level' wellness. He recognised that this would only be achieved if we could stop being obsessed with disease, cure and prevention and move towards 'positive health;

Psychological well-being is the state of feeling healthy and happy, having satisfaction, relaxation, pleasure, and peace of mind. psychological well-being

deals with people's fellings about everday experiences in usual activities.

Such feelings may range from negative mental states or psychological strains such as anxiety, depression, frustration, emotional exhaustion, unhappiness, dissatisfaction to a state which has been identified as positive mental health. (Jahoda 1958 Warr,1978). Well-being or wellness is often referred to as ''whole-ness of body, mind and spirit in terms of health, prosperity and self-actualization''(Maslow,1968). According to Fromm (1976) well bing is only possible to the degree to which one is open, responsive, sensitive, awake and empty. According to Witmer and Sweeney(1992) psychological well-being includes majority of characteristics of the healthy person; a sense of control, realistic beliefs, spontaniety and emotional responsiveness, intellectual stimulation, problem solving, creativity and sense of humor. As Nagpal and Sell (1985) observe all indicators of psychological well-being have objective and subjective componetnts. The objective components relate to concerns that are generally known by the term standards of living. However, individual satisfaction of happiness with objective reality depends not only on the access to goods and services that are available to the community but also on his expectations and perceived reality. It is this subjective component which links the concept of life to subjective well-being, Every one yearns to lead a good life and even desires for a life that is peaceful, happy and meaningful. Clinebell (1995) has noted that the aim of life is to be fully born, though its tragedy is that most of us die before we are thus born.

Forgiveness is prosocial changes in people's transgression related interpersonal motivations toword a transgressor. When people forgive a transgressor, they become less motivated by revenge and avoidance and more motivated by benevolence toward the transgressor(McCullough et al.,1998;McCullough, Worhtington & Rachal, 1997). Forgiveness has been associated with interpersonal relationships between the forgiver and the transgressor (McCullough et. al, 1998) Forgiveness is positively associated with psychological well-being, because forgiveness helps people maintain and restore close relationships (Brown, 2003; Freedman & Enright, 1996) An unforgiving attitude is destructive to personal relationships, especially marital relationships which are destroyed not so much by what has been done but by what hasn't been done i.e. -forgiving one another. Genuine forgiveness, is the hardest action in the whole world. We are all fairly good at excusing minor annoyances, but when we are hurt unfairly and deeply by someone we love, forgiveness often seems almost impossible. Al-Mabuk, Enright, & Cardis, 1995; Coyle & Enright (1997) Forgiving might also involve reductions in hostility. McCullough (1998) found that people who were more forgiving of people who had recently transgressed against them had higher levels of satisfaction with life. Many religious and value systems assume that forgiveness is a source of human strength, yielding interpersonal, mental or physicsl benefits.

METHOD

Participants : Participants were 100 adults.

Procedure:

Participants were given to read brief description of the study. If a participant chose to participate, (a) the researcher explained that he/she would have to complete a brief questionnaire about the most recent occassion in their life when somone hurt or offended him/her (b) Completion of the Transgression-Related Interpersonal Motivations (TRIM) Inventory (McCullough et al.,1998), (c) completion of a final questionnaire about Psychological Well-Being (PWB) Scale (Ryff,1995). Afterward, partcipants were thanked for participating.

Measures:

Transgression-Related Interpersonal Motivations (TRIM) Inventory

In the present study we used the TRIM-18 Inventory (McCullough,1998). The TRIM is self-report instrument that assesses the motivations assumed to underlie forgiving: The seven item avoidance subscale measures motivation to avoid a transgressor, the five item revenge subscale measress motivation to seek revenge, and a six item suoscale for measuring benevolence motivation. Items are rated on 5-point Likert type scale(l=strongley disagree to 5=strongly agree).

Psychological Well-Being Scale (PWB) Ryff, 1995-

Carol Ryff conceptualized psychological well-being as consisting of 6 dimensions-autonomy, environmental mastery, personal growth, positive relations with others, purpose in life and self-acceptance. 42 Items are rated on a 6 point likert scale. Higher scores on each sub-scale indicate greater well-being on that dimension.

RESULTS

Descriptive Statistics

Means, standard deviations, and C.R. test appear in Table-1

Table1

Mean Differences on the Measures of Psychological Well-Being between Forgivers

Dimensions of Psychological well-Being	Low Forgiveness		High Forgiveness		C.R.
	M	SD	M	SD	
1. Autonomy	75.83	6.28	102.73	8.03	18-68**
2. Environmental Mastery	105.71	6.41	119.92	8.12	9.72**
3. personal Growth	117.18	5.17	123.26	7.03	4.93**
4. Positive Relations with others	125.79	6.25	162.30	9.45	22.79 **
5. Purpose in Life	115.24	6.23	148.61	7.54	23.99**
6. Self Acceptance	81.20	5.26	90.54	6.35	8.00**

DISCUSSION :

The main objective of the present research was to investigate the role of forgiveness in psychological well-being of adults Table 1 indicates that forgiveness is positively associated with psychological well-being. The findings indicate that the high scorer in forgiveness is self determining and independent, able to resist social pressures, to think and act in certain ways, regulates behaviour from within, evaluates self by personal standards. High scorer has a sense of mastery and competence in manging the environment, controls complex array of external activities, makes effective use of surrounding opportunities is able to choose or create contexts suitable to personal needs and values. Forgiver enjoys a feeling of sustained development, sees self as growing and expanding, is open to new experiences, has sense of realising his or her potential, sees improvement in self and behaviour over time, is changing in ways that reflect more self knowledge and effectiveness. High scorer has warm, satisfying, trusting relationships with others, is concerned about the welfare of others, is capable of strong empathy, affection and intimacy, understands give and take of human relationships. High scorer has goals in life and a sense of directedness, feels there is meaning to present and past life, helds beliefs that give life purpose, has aims and objectives for living. The high scorer possesses a positive attitude toward the self, acknowledges and accepts multiple aspects of self, including good and bad qualities, feels positive about past life. Table shows that the significant difference among all the measures of psychological well-being i.e. Autonomy (18.68**), Environmental Mastey (9.72**) Personal growth (4.93**), Positive relations with others (22.79**), purpose in life (23.99**), and self acceptance (8.00**) in low forgivers and high forgivers. Results clearly indicate that forgiveness is the central component of psychological well-being and that it affects all the dimensions of psychological well-being.

Stanford Forgiveness Projects (Luskin, Fred 1998-2006)

The Stanford Forgiveness Projects are a series of research project that investigate the effectiveness of a specific forgiveness methodology. In each study people who had an unresolved hurt were taught to forgive in a group format through lecture, guided imagery, cognitive disputation and discussion. Results showed after forgiveness training decrease in feelings of hurt, reduction in long term experience of anger, reduction in physical symptoms of stress, decrease in emotional experience of stress, decrease in depression, increase in optimism, increase in physical vitality and increase in forgiveness towards person that hurt them was significantly noted.

REASONS FOR FORGIVING BENEFITS OF FORGIVENESS

1. Forgiveness is a healing journey for both the body and the soul.

2. Forgiveness is the great transformer of human relationships-personal, social, institutional or economic. And because it is so central to improved

relationships, we need to seek it and approach it with awareness that it leeds to the richness of all relationships.

3. Reduces anger, stress, feelings of hurt, emotional experience of stress and depression.

4. Willingness to forgive is associated with a lower blood pressure, a lower heart rate and a reduced workload for the heart muscle.

5. Forgiveness is powerful therapeutic intervention and as an intellectual exercise in which the patient makes a decision to forgive.

6. The psychological response that is forgiveness includes the presence of positve affect, judgment and behaviour.

7. People who are inclined to forgive theier transgressors tend to be more aggreable, more emotionally stable, and more spiritually or religioulsy inclined.

8. When people forgive, the probability restoring benevolent and harmonious interpersonal relations with their transgressors is increased.

9. People who were more forgiving of people who had recently transgressed against them had higher levels of satisfaction with life.

10. Many religious and value systems assume that forgiveness is a source of human strength, yielding interpersonal, mental or physical benefits.

11. Forgiveness invlolves re-establishment of positive motivations toward transgressors. When someone hurts you and refuses to apologize, and even if this means that the relationship cannot be repaired, you can still offer forgiveness for the sake of your own mental health.

REFFRENCES :

1. Al-Mabuk, R.H., Enright, R.D., & Cardis, P.A. (1995) Forgiveness education with parentally love-deprived late adolescents. Journal of moral education, 24, 427-444.
2. Brown, R.P. (2003) Measuring individual differences in the tendency to forgive : construct validity and links with depression, personality and social psychology Bulletin, 29, 759-771.
3. Canale(1990) Defining forgiveness adapted from the book Leaving Yesterday Behind by Bill Hines.
4. Cheng (1988), Evans(1994), George(1992) Health promotion, wllness programs, quality of life and the marketing of psychology, Canadian Psychology, Feb. 1997 by Evans, David R.
5. Clinebell, H. (1995) well-being-a personal plan for exploring and enriching the seven dimensions of life. Peoples well-being center, Inc. University of Philippines, Quezon City, Phillopines.
6. Coyle, C.T. & Enright, R.D. (1997) Forgiveness intervention with post- abortion men. Journal of consulting and clinical psychology, 65(6),1042-1046.
7. Fitzgibbons(1986) Defining forgiveness adapted from the book Leaving yesterday Behind by Bill Hines.
8. Freedman, S.R., & Enright, R.D. (1996) Forgiveness as an intervention goal with incest survivors. Journal of consulting and clinical psychology, 64, 510-517.
9. Fromm, E. (1976) to have or to be, New York : Harper & Row.
10. Jahoda,M.(1958) Current concepts of positive mental health, New York, Basic Books.

11. Luskin, Fred(2006) Stanford Forgiveness Projects
http://www.hawaiiforgivenessproject.org/stanford.htm.
12. Maslow, A. (1968) Towards a psychology of being, New York : Viking.
13. McCullough, M.E.(1998) Transgression Related Interpersonal Motivations Inventory (TRIM-18) Journal of consulting and clinical psychology, 2006, vol.74, No.5,887-897.
14. McCullough, M.E., Rachal, K.C., Sandage, S.J. Worthington, E.I. Brown, S.W., & Height, T.L. (1998) Interpersonal forgiving in close relationships. II : Theoretical elaboration and measurement. Journal of personality and social psychology, 75, 1856-1603.
15. McCullough, M.E. & Worthington, E.L. (1999) Religion and the forgiving personality, Journal of personality, 67, 1141-1164.
16. McCullough M.E. Worthington, E.L., & Rachal, K.C. (1997) Interpersonal forgiving in close relationships. Journal of personality and social psychology, 73, 321-336.
17. Nagpal, R. and Sell, H. (1985) Subjective well-being, New Delhi : World Health Organization.
18. Rowe Halling, Davies Leifer, Powers & Van Bronkhorst(1989) Defining forgiveness adapted from the book Leaving Yesterday Behind by Bill Hines.
19. Ryff, C,D. (1995) Psychological well-being in adult life. Current directions in psychological science,4,99-104.
20. Studzinski(1986) Defining forgiveness adapted from the book Leaving Yesterday Behind by Bill hines.
21. Subkoviak, Enrignt(1992) Defining forgiveness adapted from the book Leaving Yesterday Behind by Bill Hines.
22. Warr, P.B.(1978) A study of psychological well-being, British Journal of Psychology, 69, 111-121.
23. Webster's new universal unabridged dictionary(1983) New York:Dorset and Baker.
24. Witmer, M. & Sweeney (1992) a holistic model of wellness and prevention over the life span. Journal of counselling and Development, 71, 140-148.

Received : 15.12.10

Vol. - 24, Issue -1, January - March, 2012, 75-81

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapīṭha, Indorer

Logical Analysis of 'Minimum' and 'Maximum' in Jainism

■ Samani Chaitypragya *

Abstract

The present study aims at defining, describing and logically analysing the concept of minimum and maximum in jainism. It hypothises that the concept of minimum and maximum is relative. Through method of logical analysis of the basic four questions related to the concept minimum and maximum as described in Jaina texts and various illustrations it concludes that the concept of minimum and maximum in jaina philosophy is relative.

Introduction

The concept of infinity itself is riddled with paradoxes according to Moore.[1] They are as follows : The paradoxes of infinitely small, the paradoxes of infinitely big, the paradoxes of one and many, the paradoxes of thought about infinite. All these paradoxes of infinite occur if we consider infinitely small and big as absolute. Jaina theory of relativity predominantly plays its key role in almost all the aspects of its philosophy. It is also true in the case of Jaina Mathematics. Jaina canons have a detailed theory of Arithmatics and Computations. The unique concept of Jaina mathematics is that neither minimum nor maximum is zero in Jainism. In fact the concept of zero does not exist in Jainism. The number or counting starts from one and not from two. The minimum number technically called *jaganya saṅkhyā* is valued as two and the maximum technically called as *ananta* is or infinte. The present study is an effort to study and search the logical basis for these contentions. It deals with four basic problems of number theory in Jainism as follows :

1. Why minimum counting starts from 2 ?
2. Why "O" is not a number?
3. Can infinte be classified?
4. Is Absolute infinte possible?

Before solving the above problems, let us have a glimpse of Jaina theory of numbers in brief.

The numbers in Jainism are divided into three categories :

1. *saṅkhyāta*, (Numerable) 2. *asaṅkhyāta*, (Innumerable) 3. *ananta*, (Infinte)

The numerable numbers are again divded into three catogories : minimum, intermediate and maximum. The innumerable numbers are also divded into three subclasses : low-grade, self-raised and innumerable- innumerable. Each of the

* Assistant Professor, Jain Vishva Bharati University, Ladnun-341306 Rajasthan

three innumerable sub-classes is again divided into minimum, intermediate and maximum. The infinite is also divided first into three sub-classes : low-grade, self raised and infinite-infinite and then first two sub-classes are further divided as minimum, intermediate and maximum while third sub-class, infinite-infinite, is minimum and intermediate only, there is no maximum in the case of infinite-infinite. The chart no.1 from that which is[2] is of a help to have a overview of Jaina way of classification of numbers.

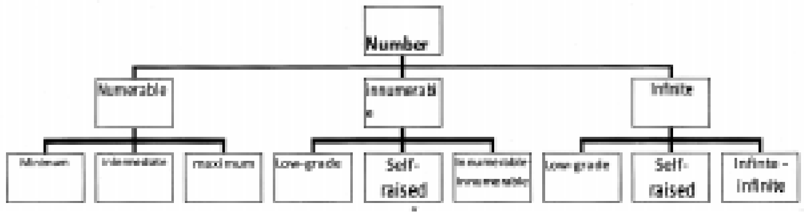

Chart 1 Classification of Numbers in Jainism

The classification given in the chart-1 does not stop here, each of them is again divided into three kinds; minimum, intermediate and maximum except numberable. Thus from this classification the minimum number is (countable) *'saṅkhyā'*, *jaganya saṅkhyāta*, (Minimum Numerable) which has been valued as 'two'. Digambara and *Swetāmbara* texts differ in the classification of numbers. The *Swetāmbara* texts such as *Thāṇaṃ*[3] the classes of numbers are as follows :

kati - 2 to numerable

akati - innumerable to Infinite

avaktavya - one

Here kati refers to Numbers, akati refers to beyond numbers, avaktavya connotes not being a *sankhyā*, as "one' is not a *saṅkhyā*, one is avaktavya.

The Digambaras classify the numbers as follows[4]

kṛti - 3 and more

nokṛtī - one

avaktavya - two

With all these differences, there is yet a general concept acceped in the tradition that, states that minimum countable number is two and 0 is not a number and infinite is relative in nature.

1. Why Minimum Counting Starts From 2 ?

'One is not a (countable) *'saṅkhyā'*, this is a common concept in jaina text. As *saṅkhyā* means to count. The counting starts from 2. Thus the minimum number remains 2, As seen in *Anuyogadārāiṃ* and *Lokapṛakāśa* the reason given for this varies from text to text. The *Anuyogadārāiṃ*[5] text argues that 1 is number but not in the category of counting. That is to say it is not a countable number because it is not practically counted in day to day life. *Lokaprakāśa*[6] on

the other hand contends that since the square of the 1 does not increase the number i.e. (1×1=1) as in the case of two (2×2=4, 3×3=9) and more thus it is not considered as (countable) *‘saṅkhyā’*.

That can be explained as follows :

kṛiti → āx^2 - √x^2)^2 > x^2 → 3 and more

nokṛiti → x^2 ~a ≥ x+y) āy is one or more than one → one

avaktavya → neither applicable → 2

Thus avaktavya remains the minimum countable number.

2. Why “0” Is Not A Number?

Zero is not considered as a number in Jainism. It is common in both the traditions that they donot consider zero a number. The existence of an entity, cannot be in zero. This absence of existence is an impossible event, never to happen in this world. The modes might change, but ‘existence’ is blessed with eternality. It is not possible, that ‘what is’ becomes ‘is not’. If one loses its existence, they cannot come to being again. By this process the world will become zero one day. This is an unreal dream.

The dispute zero can also be analyzed from a scientific view. A simple scientific value of heat could be a good example, to explain the unit of zero-value, quoted by Mr. Gelada "Generally we start from zero degree Celsius and start measuring. But when it is frozen at 0^0C, does it mean the heat is totally absent in it? This is not so. Thus we use the absolute scale of heat which is Kelvin' According to this ice possesses 273^0K heat. ^{0}K means the ultimate zero. ln the field of science, a postulate has been given that there is nothing equal to ^{0}K. It is not a reality”[7] The concept of minmum in Jainism is relative. In order to understand how is the concept of minimum is relative in jainism we must understand what relative and absolute minimum is. The figure below no.1 clearly depicts what is meant by relative minimum-

Relative and Absolute Minimum

The lowest point over the entire domain of a function or relation is absolute. Note: The first derivative test and the second derivative test are common methods used to find minimum values of a function and maximum in Jainism which are relative as in following figure.

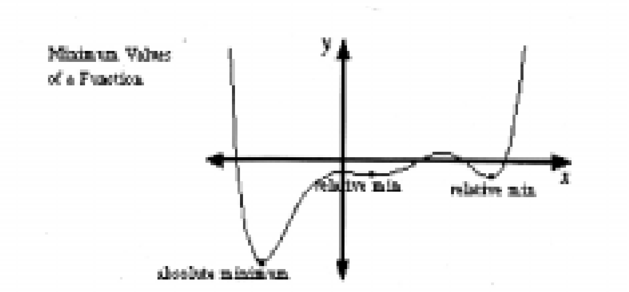

Thus the concept of minimum being relative can be deduced. Minimum depends on the object for which it is assigned as depicted in Table no.2

Table No. 2 Logical basis for value assigned to minimum

Nature of Objects for which Minimum value is Assigned	Minimum value in Numerical form
non existent	0
For single existent	1
For multi existent	2

from the above table and discussion it can be concluded that since the concept of minimum in Jainism is relative, it has not considerd O or 1 as minimum countable number as shown in table 2

3. Can Infinite be classified ?

The infinite has always stirred the emotions of mankind more deeply than any other question not only beacuse the infinite has stimulated and fertilized reason as only atew few other ideas have: but also the infinite, more than any other notion is the need of clarification.

The word ananta is etymologically defined in savartha siddh{[8] as

"avidyamanonto yeiśhāṃ te anantāh"

that which does not end is infinte" where as Dhavalā defines it as

"jo rasī egegar7ve avijjamāṇe, nittādi so asaṅkhejja, jo pulta na samappai so asl ananto"

The set of numbers that can be reduced to empty set by removal of each of its member subsequently is known as innumerable, where that which never gets emptied is infinite. If we compare the classificaton of infinite with innumerable, The highest value according to Jainism is intermediate-infinite-infinite.

There are eight kinds of infinite

The concept of infinite (ananta is relative in Jainism. Infinite is of nine types as stated in anuyogadaraiṃ[9] which clearly stated that infinte in Jainism is mainly relative. The mximum value according lo Jainism is Infinte (ananta). In Jainism Infinite is defined as that amount which does not come to an end.

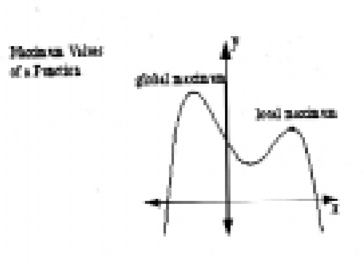

Relative Maximum,

The highest point in a particular section of a graph.[10]

Relative Maximum, = local Maximum,

Global Maximum = Absolute Maximum

The highest point over the entire domain of a function of relation. The truly infinite does not exist.[11]

As Ali Enayat and Roman Kossak opines, Non absolute concept of 1 is model dependent in contrast to the is something absolute 1 which is not a set of all sets.

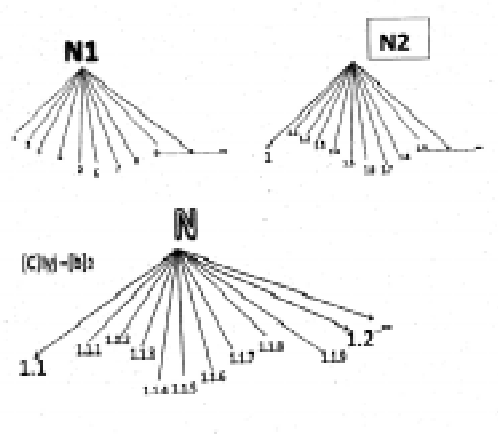

4. Is Absolute Infinite possible?

From the comparison of the classification of infinite with ihe classification of infinite : innumerable is classified into nine types where as infinite has been in to only eight types. The ninth type maximum innumerable innumerable similar set of infinite) is absent or mising which seems to conceptually highest value. This absence of the (maximum infinite infinite in the naturaal classification of numbers prove s the absence tof absolute infinite.

Cantor[12] contends that infinte is not possible, because as soon as it is symbolised, it turns to be finite. Therefore the (truly) infinite is impossible. ∝, n etc. all for some reason are finite. Inconsistant totalities which on the ground of understanding do not really exist. For ex. Ω and sets of all sets. Thus infinte is not possible. But this must be understood only absolute infinite Sense. Because sets of all sets is the other term for Absolute infinite. More over if ∝, n, etc. be a finite, then there would be no difference between infinite and an infinite set. Hence they must be accepted as relative infinite.

Wittgeinste on the other hand

Factual world -(lnfinite what could be said)=S

Possible world - a infinte could what be shown)=A to I

Logical world - a infinite what could be thought) =liu /x[13]

Accoding to Michel Potter[14] u Every finite set is countable where infinty is countable but not finite. If the function A onto B. A is countable then B is countable. A set is said to be countably infinite if it is both countable and infinite. The set of natural numbers is countably infinite proposition ∝ × ∝ countably infinite. For proof consider the function which maps any finite string

$n_1, n_2 ..... n_\propto$

Thus to exclude or overcome the fallacy of Law of excluded middle Moore in his the infinite proves it through a syllogism[15].

If some ∝ is true then no ∝ becomes false

There exists some infinite

Therefore no infinite is false

The recent concept of relative and absolute infinite would assist the Jaina conept of infinity for better comprhenstion. According to Ali Enayat and Roman Kossak' A set is absolutely uncountable when this property is not in the model but in real world can be studied by non-formal mathematics a i.e it is an infinite set that is by contrast of something that is model dependent)*" Non absolute concept by contrast is something that is model dependent'.

The eight kinds of infinte explained in Jaina scriptures are relative. The ninth which goes to absolute is absent.

Conclusion

Thus the study Concludes that The concept of minimum and maximum in Jainism are relative as it is Realistic philosophy.

* O does not exist. hence cannot be minimum

* Since infinite is also relative there can be its types which can be proved through diagrams encompassed.

* The existence of absolute infinite must also be admitted at least in the logical world.

* As Ali Enayat and Roman Kossak opines, Non absolure concept of I is model dependent in contrast to the is something absolute I which is not ∴ = x/ lna = a set of all sets.

Reference :

1. A.W. Moore, The Infinite, Routledge London, 1990
2. Nathmal Tatia That which is, english translation of Tattvārtha Sūtra p. 266 c.f. Anuyoga dārāiṃ 596-603 commentary p. 332
3. Thāṇaṃ, 3.7 ed by Muni Nathmala, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 1976 tivihā neraiyā Paṇṇttā, akati saṅcita, akati saṅcita, avaktvy saṅcita
4. Commentary of Thāṇaṃ, ed by Muni Nathmala, p.261
5. Anuyogadārāiṃ, 574 vṛtti of haribhadra, p. 109
6. Lokaprakāśa, 4. 310-312
7. Mahavira Raja Gelada, Jain Vidya Aur Vigyan, p. 219.

8. Savārtha siddhi, 5.9.275
9. Anuyogadārāiṃ, 515-19
10. Note: The first derivative test and the second derivative test are common methods used to find maximum values of a function.
11. A.W. Moore, The lnfinite, routledge, 1990, 2nd 2001 p. 206
12. Cantor, Goerg, Contributions To the Founding of the Theory of Transfinite Numbers, Trans. Philip E.B. Jourdain, New York, 1955
13. A.W. Moore The Infinite, 2001, p. 198
14. Set Theory and lts Philosophy, Oxford University Press, Oxford, 2004, p. 113
15. A.W. Moore, Infinite p. 209
16. Contemporary Mathematics, Nonstandard Model Of Arithmatic and Set Theory, American Mathematical Society, 2003, p. 2q

Received : 27.03.11

बोहरा जैन के इतिहास का संकलन

जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों में बोहरा समाज के 84 गोत्रों की जानकारी मिलती है। बोहरा भूरचंद जैन द्वारा दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी एवं तेरापंथी आम्नाय के बोहरा जैन बंधुओं द्वारा अनेक धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक कार्य किये गये हैं। उनका संकलन किया जा रहा है। विस्तृत जानकारी हेतु सम्पर्क सूत्र -

बोहरा भूरचंद जैन
अरिहंत भवन, सदर बाजार
बाड़मेर - 344001
फोन : 02982-220430
मोबा. : 09530249662

General Instructions and Information for Contributors

1. Arhat Vacana publishes original papers, reviews of books & essays, summaries of Dissertations and Ph.D. Thesis, reports of Meetings/Symposiums/Seminars/ Conferences etc.
2. Papers are published on the understanding that they have been neither published earlier nor have been offered to any journal for publication.
3. The manuscript (in duplicate) should be sent to the following address-
   Dr. Anupam Jain, Editor - Arhat Vacana
   'Gyan Chhaya', D-14, Sudamanagar, INDORE - 452 009,
   e-mail : anupamjain3@rediffmail.com
4. The manuscript must be typed on one side of the durable white paper, in double spacing and with wide margin. the title page should contain the title of the paper, name and full address of the author. It is prefered to submit the MSS electronically through C.D. or email in MS Word in addition to the above.
5. The author must provide a short abstract in duplicate, not exceeding 250 words, summarising and highlighting the principal findings covered in the paper.
6. Foot-notes should be indicated by superior number running sequentially through the text. All references should be given at the end of the text. The following guidelines should be strictly followed.
   (i) References to books should include author's full name, complete and unabbreviated title of the books (underlined to indicate italics), volume, edition (if necessary), publisher's name, place of publication, year of publication and page number cited. For example - Jain, Laxmi Chandra, Exact Sciences from Jaina Sources, Basic Mathematics, Vol.-1, Rajasthan Prakrit Bharati Sansthan, Jaipur, 1982, pp. XVI
   (ii) References to articles in periodicals should mention author's name, title of the article, title of the periodical, underlined volume, issue number (if required), page number and year. For example - Gupta, R.C., Mahāvīrācārya on the Perimeter and Area of Elipse, The Mathematics Education, 8 (B), PP. 17-20, 1974.
   (iii) In case of similar citations, full reference should be given in the first citation. In the succeeding citation abbreviated version of the title and author's name may be used. For example - Jain, Exact Sciences, PP. 45 etc.
7. Line sketches should be made with black ink on white board of tracing paper. Photographic prints should be glossy with strong contrast.
8. Acknowledgements, if there be, are to be placed at the end of the paper, just before reference.
9. Only ten copies of the reprints will be given free of charge to those authors, who subscribe. Additional copies, on payment, may be ordered as soon as it is accepted for publication.
10. Devanāgari words, if written in Roman Script, should be underlined and transliteration system should be adopted.

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

दानवीर सेठ माणिकचन्द्र

■ सतीश जैन *

सारांश

श्वेतपिच्छाचार्य आचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज की प्रेरणा से 23-10-11 को दिल्ली में दानवीर सेठ श्री माणिकचन्द्र का 160वां जन्म जयन्ती समारोह आयोजित किया गया। यह परिचय इस श्रृंखला में प्रकाशित किया गया है। सेठ माणिकचन्द्र जैन का चिन्तन आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना 100 वर्ष पूर्व था।

- सम्पादक

दानवीर सेठ माणिकचन्द्र का जन्म सेठ हीराचन्द्र एवं माता बिजलीबाई के घर सूरत में धन तेरस (ध्यान तेरस) के शुभ दिन संवत् 1908 में हुआ था। सेठजी न अंग्रेजी के विद्वान् थे और न संस्कृत के, वे साधारण भाषा का पढ़ना-लिखना जानते थे परन्तु उन्होंने अपने जीवन में जो कुछ किया है उससे बाबू वर्ग और पण्डितगण दोनों ही बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। वे अपने अनुकरणीय चरित्र से बतला गये हैं कि कथनी की अपेक्षा करनी का मूल्य अधिक है–ज्ञान की अपेक्षा आचरण अधिक आदरणीय है। उनका अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था। जैनसमाज के विषय में जितना ज्ञान उनको था उतना बहुत थोड़े लोगों को होगा। कभी-कभी उनके विचार सुनकर कहना पड़ता था कि अनुभव के आगे पुस्तकों और अखबारों का ज्ञान बहुत ही कम मूल्य का है।

यदि संक्षेप में पूछा जाय कि सेठजी ने अपने जीवन में क्या किया ? तो इसका उत्तर यही होगा कि जैन समाज में जो विद्या की प्रतिष्ठा लुप्त हो गई थी, उसको इन्होंने फिर से स्थापित कर दिया और जगह-जगह उसकी उपासना का प्रारम्भ करा दिया। सेठजी के हृदय में विद्या के प्रति असाधारण भक्ति थी। यद्यपि वे स्वयं विद्यावान् न थे, तो भी तो विद्या के समान मूल्यवान् वस्तु उनकी दृष्टि में और कोई न थी। उन्होंने अपनी सारी शक्तियों को इसी माँ सरस्वती की सेवा में नियुक्त कर दिया था। उनके हाथ से जो कुछ दान हुआ है, उसका अधिकांश इसी परमोपासनीय देवी के चरणों में समर्पित हुआ है, बाद में तो उनकी यह विद्याभक्ति इतनी बढ़ गई थी कि उसने सेठजी को कंजूस बना दिया था। जिस संस्था के द्वारा या जिस काम के द्वारा विद्या की उन्नति न हो, उसमें लोगों के लिहाज या दबाव से यद्यपि वे कुछ-न-कुछ देने को लाचार होते थे परन्तु वे उस दान से वास्तविक आनन्द का अनुभव नहीं कर पाते थे।

सेठजी के हृदय में यह बात अच्छी तरह जम गई थी कि अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों में जो शिक्षा दी जाती है, वह धर्मज्ञानशून्य होती है। उनमें से बहुत कम विद्यार्थी ऐसे निकलते हैं जो धर्मात्मा और अपने धर्म का अभिमान रखने वाले हों। अपनी जाति और समाज के प्रति भी उनके हृदय में आदर उत्पन्न नहीं होता है परन्तु वर्तमान समय में यह शिक्षा अनिवार्य है। अंग्रेजी पढ़े बिना अब काम नहीं चल सकता है, इसलिए कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे उनके हृदय में धर्म का अंकुर उत्पन्न हो सके। इसके लिए आपने ''जैन बोर्डिंग स्कूल'' खोलना और उनमें स्कूल-कॉलेज के

विद्यार्थियों को रखकर उन्हें प्रतिदिन एक घंटा धर्मशिक्षा देना लाभकारी समझा। इस ओर आपने इतना अधिक ध्यान दिया और इतना प्रयत्न किया कि इस समय दिगम्बर-समाज में उनके द्वारा स्थापित 25 बोर्डिंग स्कूल काम कर रहे हैं।

संस्कृत पाठशालाओं की ओर भी आपका ध्यान गया। संस्कृत की उन्नति आप हृदय से चाहते थे, आपने संस्कृत के लिए बहुत कुछ किया। बनारस की स्याद्वाद पाठशाला ने आपके ही अर्थ सहयोग से चिरस्थायिनी संस्था का रूप धारण किया है। आपके बोर्डिंग स्कूलों में वे विद्यार्थी प्रथम स्थान पाते हैं, जिनकी दूसरी भाषा संस्कृत रहती थी और संस्कृत के कई विद्यार्थियों को आपकी ओर से छात्रवृत्तियाँ भी मिलती थी। अपने दान से वे जैन-परीक्षालय को स्थायी बना गये।

सेठजी बहुत ही उदारहृदय थे। आम्नाय और सम्प्रदायों की शोचनीय संकीर्णता उनमें न थी। उन्हें अपना दिगम्बर सम्प्रदाय प्यारा था परन्तु साथ ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय के लोगों से भी उन्हें कम प्रेम न था। वे यद्यपि बीसपंथी थे, पर तेरहपंथियों से अपने को जुदा न समझते थे। **उनके बम्बई के बोर्डिंग स्कूल में सैकड़ों श्वेताम्बरी और स्थानकवासी विद्यार्थियों ने रहकर लाभ उठाया है। एक स्थानकवासी विद्यार्थी को उन्होंने विलायत जाने के लिए अच्छी सहायता भी दी थी। उनकी सुप्रसिद्ध धर्मशाला हीराबाग में निरामिषभोजी किसी भी हिन्दू को स्थान दिया जाता था। साम्प्रदायिक और धार्मिक लड़ाइयों से उन्हें बहुत घृणा थी।** उनकी प्रकृति बड़ी ही शान्तिप्रिय थी। पाठक पूछेंगे कि यदि ऐसा था तो वे मुकदमेबाजी में सिद्धहस्त रहनेवाली तीर्थक्षेत्र कमेटी के महामंत्री क्यों थे? इसका उत्तर यह है कि वे इस कार्य को लाचार होकर करते थे, पर वे इससे दुखी थे और अन्त तक दुखी रहे। तीर्थक्षेत्र कमेटी का काम उन्होंने इसलिए अपने सिर लिया था कि इससे तीर्थक्षेत्रों में सुप्रबन्ध स्थापित होगा, वहाँ के धन की रक्षा और सदुपयोग होगा। यात्रियों को आराम मिलेगा और धर्म की वृद्धि होगी। इस इच्छा को कार्य में परिणत करने के लिए उन्होंने प्रयत्न भी बहुत किये और उनमें सफलता भी बहुत कुछ मिली। कुछ ऐसे कारण मिले और समाज ने अपने विचार-प्रवाह में उन्हें ऐसा बहाया कि उन्हें मुकदमें लड़ने ही पड़े–पर यह निश्चय है कि इससे उन्हें कभी प्रसन्नता नहीं हुई। अपने ढाई लाख के अंतिम दान-पत्र में तीर्थक्षेत्रों की रक्षा के लिए 7/100 भाग दे गये हैं, परन्तु उसमें साफ शब्दों में लिख गये हैं कि इसमें से एक पैसा भी मुकद्दमों में न लगाया जाय, इससे सिर्फ तीर्थों का प्रबंध सुधारा जाय।

जैनग्रन्थों के छपाने और उनके प्रचार करने के लिए सेठजी ने बहुत प्रयत्न किया था। यद्यपि स्वयं आपने बहुत कम पुस्तकें छपाई थीं परन्तु पुस्तक प्रकाशकों की आपने बहुत जी खोलकर सहायता की थी। उन दिनों में जब छपे हुए ग्रन्थों की बहुत कम बिक्री होती थी, तब सेठजी प्रत्येक छपी हुई पुस्तक की डेढ़-डेढ़ सौ, दो-दो सौ प्रतियाँ एकसाथ खरीद लिया करते थे, जिससे प्रकाशकों को बहुत बड़ी सहायता मिल जाती थी। इसके लिए आपने अपने चौपाटी के चन्द्रप्रभ-चैत्यालय में एक पुस्तकालय खोल रखा था। उसके द्वारा आप स्वयं पुस्तकों की बिक्री करते थे और इस काम में अपनी किसी तरह की बेइज्ज़ती न समझते थे। जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय तो आपका बहुत बड़ा उपकार है। यदि आपकी सहायता न होती, तो आज वह वर्तमान स्वरूप को शायद ही प्राप्त कर पाता। आप छापे के प्रचार के कट्टर पक्षपाती थे परन्तु इसके लिए लड़ाई-झगड़ा, खंडन-मंडन आपको बिल्कुल ही पसंद न था। जिन दिनों अखबारों-में छापे की चर्चा चलती थी, उन दिनों आप हमें अकसर समझाते थे कि ''भाई, तुम व्यर्थ ही क्यों लड़ते हो? अपना काम किये जाओ। जो शक्ति लड़ने में लगाते हो, वह इसमें लगाओ। तुम्हें सफलता प्राप्त होगी। सारा विरोध शान्त हो जाएगा।''

सेठजी के कामों को देखकर आश्चर्य होता है कि एक साधारण पढ़े-लिखे धनिक पर नये समय का और उसके अनुसार काम करने का इतना अधिक प्रभाव कैसे पड़ गया। जिन कामों में जैनसमाज का कोई भी धनिक खर्च करने को तैयार नहीं हो सकता, उन कामों में सेठजी ने बड़े उत्साह से द्रव्य खर्च किया। दिगम्बर जैन-डायरेक्टरी–एक ऐसा ही काम था। इसमें सेठजी ने लगभग 15 हजार रुपये लगाये। दूसरे धनिक नहीं समझ सकते कि डायरेक्टरी क्या चीज है और उससे जैनसमाज को क्या लाभ होगा। विलायत एक ''जैन-छात्रावास'' बनवाने की ओर भी सेठजी का ध्यान था परन्तु वह पूरा न हो सका।

धनवैभव का मद या अभिमान सेठजी को छू तक न गया था। इस विषय में आप जैन-समाज में अद्वितीय थे। गरीब-से-गरीब ग्रामीण जैनी से भी आप बड़ी प्रसन्नता से मिलते थे–उससे बातचीत करते थे और उसकी तथा उसके ग्राम की सब हालात जान लेते थे। आप शाम के दो घंटे प्राय: इसी कार्य में व्यतीत करते थे। सैकड़ों कोसों की दूरी से आये हुए यात्री जिस तरह आपकी कीर्ति-कहानियाँ सुना करते थे, उसी तरह प्रत्यक्ष में भी पाकर और मुंह से चार शब्द सुनकर अपने को कृतकृत्य समझने लगते थे। आपका व्यवहार इतना सरल और अभिमान-रहित था कि देखकर आश्चर्य होता था।

विलासिता और आरामतलबी धनिकों के प्रधान गुण हैं परन्तु ये दोनों बातें आप में न थी। आप बहुत ही सादगी से रहते थे और परिश्रम से प्रेम रखते थे। 63 वर्ष की उम्र तक आप सवेरे से लेकर रात 11 बजे तक काम में लगे रहते थे। आलस्य आपके पास खड़ा न होता था। परिश्रम से घृणा न होने के कारण ही आपका स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहता था। आपकी शरीर-सम्पत्ति अंत तक अच्छी रही–शरीर से आप सदा सुखी रहे। सेठजी की दानवीरता प्रसिद्ध है। उसके विषय में यहाँ पर कुछ लिखने की जरूरत नहीं। अपने जीवन में उन्होंने लगभग पाँच लाख रुपयों का दान किया है, जो उनके जीवनचरित में प्रकाशित हो चुका है। उसके सिवाय अभी उनके स्वर्गवास के बाद मालूम हुआ कि सेठजी एक-दो लाख रुपये का बड़ा भारी दान और भी कर गये हैं, जिसकी बाकायदा रजिस्ट्री भी हो चुकी है। बम्बई में इस रकम की एक आलीशान इमारत है, जिसका किराया 1100 महीना वसूल होता है। यह द्रव्य उपदेशकभंडार, परीक्षालय, तीर्थरक्षा, छात्रवृत्तियाँ आदि उपयोगी कार्यों में लगाया जाएगा। इसका लगभग आधा अर्थात् पाँच सौ रुपया महीना विद्यार्थियों को मिलेगा।

सेठजी के किन-किन गुणों का स्मरण किया जाए ? वे गुणों के आकार थे। उनके प्रत्येक गुण के विषय में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। उनका जीवन, आदर्श जीवन था। यदि वह किसी सजीव कलम के द्वारा चित्रित किया जावे तो उसके द्वारा सैकड़ों पुरुष अपने जीवनों को आदर्श बनाने के लिए लालायित हो उठें।

यदि अच्छे कामों का अच्छा फल मिलता है तो इसमें सन्देह नहीं कि दानवीर सेठजी की आत्मा स्वर्गीय सुखों को प्राप्त करेगी और अपने इस जन्म के लगाये हुए पुण्यविटपों को फलते-फूलते हुए देखकर निरन्तर तृप्तिलाभ करने का अवसर पायेंगी।

–जैन हितैषी, अंक 8, सन् 1914 से साभार,
श्री सतीश जैन के सौजन्य से प्राप्त

* कुन्दकुन्द भारती
18-बी, स्पेशल इंस्टीटयूशनल एरिया,
महरौली रोड़, नईदिल्ली-110067

दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट, इन्दौर द्वारा स्थापित

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार

श्री दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट, इन्दौर द्वारा जैन साहित्य के सृजन, अध्ययन, अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से 1992 में कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार की स्थापना की गई है। इसके अन्तर्गत विगत 5 वर्षों में प्रकाशित/अप्रकाशित चयनित कृतियों के लेखक को रू. 25,000/- की नगद राशि, शाल, श्रीफल एवं प्रशस्ति पत्र से सम्मानित किया जाता है। हिन्दी / अंग्रेजी में लिखित कृति का चयन त्रिसदस्यीय निर्णायक मंडल द्वारा किया जाता है।

गत वर्षों में पुरस्कृत विद्वानों एवं उनकी कृतियों का विवरण निम्नवत् है –

1993 संहितासूरि पं. नाथूलाल जैन शास्त्री, इन्दौर, *'प्रतिष्ठा प्रदीप'*

1994 प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन, जबलपुर, ***'The Tao of Jaina Sciences'***

1995 प्रो. भागचन्द्र जैन 'भास्कर', नागपुर, *'जैन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व'*

1996 डॉ. उदयचन्द्र जैन, उदयपुर
'जैन धर्म स्वरूप विश्लेषण एवं पर्यावरण संरक्षण **(अप्रकाशित)** एवं
आचार्य गोपीलाल 'अमर', दिल्ली
'Jaina Solution to the Pollution of Environment (Unpublished)'

1997 अप्रदत्त

1998 प्रो. राधाचरण गुप्त, झांसी, *'जैन गणित* **(अप्रकाशित)'**

1999 डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, इन्दौर, *'हिन्दी के जैन विलास काव्यों का उद्भव और विकास*
(वि.सं. 1520-1999 तक) (अप्रकाशित)'

2000 डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन, रुद्रपुर, ***'Jaina & Hindu Logic'***

2001 डॉ. संगीता मेहता, इन्दौर
'जैन संस्कृत साहित्य के आलोक में वर्द्धमान महावीर – एक अध्ययन **(अप्रकाशित)'**

2002 डॉ. अनिलकुमार जैन, अहमदाबाद, *'जीवन क्या है?'*

2003 प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन, फिरोजाबाद, *समय के शिलालेख एवं चिन्तन प्रवाह*

2004 डॉ. अनेकान्त कुमार जैन, दिल्ली, *दार्शनिक समन्वय की दृष्टि: जैन नयवाद एवं*
डॉ. सुशीला सालगिया, इन्दौर
'जैन विषयवस्तु से सम्बद्ध आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में सामाजिक चेतना'

2005 प्रो. महावीर राज गेलड़ा, जयपुर, ***'Science in Jainism'***

2006 प्रो. नलिन के. शास्त्री, दिल्ली, *'नमामि का सम्पादन'*

2007 अप्रदत्त

2008 डॉ. सविता जैन, उज्जैन, *'जैन साहित्य लेखन, सम्पादन एवं प्रकाशन के क्षेत्र में समग्र योगदान'*

2009 प्रो. प्रेमसुमन जैन, उदयपुर, *'प्राकृत भाषा, साहित्य के अध्ययन, अनुसंधान एवं प्रचार हेतु'*

2010 एवं 2011 के पुरस्कारों की घोषणा शीघ्र की जायेगी।

डॉ. अजित कासलीवाल	**प्रो. ए.ए. अब्बासी**	**डॉ. अनुपम जैन**
अध्यक्ष	मानद निदेशक	मानद सचिव

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

31.12.11

महोपवासी आचार्य श्री सन्मतिसागर दीक्षा स्वर्ण जयंती वर्ष में डॉ. अनुपम जैन, इन्दौर 'वागीश्वरी पुरस्कार से सम्मानित'

परम तपस्वी, महोपवासी आचार्य श्री सन्मतिसागरजी महाराज के वरिष्ठतम शिष्य, परम्परा के चतुर्थ पट्टाधीश, सिद्धान्त रत्नाकर, आचार्य श्री योगीन्द्रसागर जी महाराज के ससंघ तत्वावधान में आचार्य श्री सन्मतिसागर जी का स्वर्ण संयमोत्सव (50वाँ संयम दिवस) 2-6 नवम्बर 2011 के मध्य अनेक आयोजनों यथा चौबीसी ऋद्धि विधान आदि सहित मनाया गया। 2-5 नवम्बर के मध्य धार्मिक आयोजन हुये। इसमें 50 जोड़ों ने भाग लिया। वही 6 नवम्बर को 4 विशिष्ट आयोजन नवोदित तीर्थ शीतल तीर्थ पर रखे गये।

1. विकलागों को बैसाखियाँ एवं श्रवण यंत्रों का वितरण—गुरुवर आचार्य श्री सन्मतिसागर जी के 50वें संयम दिवस के उपलक्ष्य में शीतल तीर्थ के समीपवर्ती अंचल के 50 विकलांग भाई/बहनों को बैसाखियाँ एवं श्रवण यंत्र (Hearing Aids) प्रदान किये गये। आगामी वर्षों में और अधिक विकलागों को जीवनयापन हेतु आवश्यक/उपयोगी सामग्री देने का निर्णय किया गया।

2. भजनों की C.D. का विमोचन—इस पुनीत अवसर पर पूज्य आचार्यश्री एवं शीतल तीर्थ की अधिष्ठात्री डॉ. सविता जैन द्वारा लिखित तथा श्री विनोद गौड़ के साथियों द्वारा स्वरबद्ध संगीतमय C.D. का विमोचन किया गया। म.प्र. के यशस्वी लोक स्वास्थ मंत्री **श्री महेन्द्रजी हार्डिया** के सम्मुख श्री विनोद गौड़ एवं उनके साथियों ने इन भजनों की जीवन्त प्रस्तुति (Live presentation) भी दी। इस प्रस्तुति के समय सम्पूर्ण सदन झूम उठा।

3. डॉ. अनुपम जैन को वागीश्वरी पुरस्कार—अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त युवा विद्वान तथा अर्हत् वचन शोध पत्रिका के सम्पादक डॉ. अनुपम जैन, इन्दौर को लक्षाधिक पाण्डुलिपियों के सूचीकरण एवं अलभ्य पाण्डुलिपियों की खोज के लिये **वागीश्वरी पुरस्कार** से शीतल तीर्थ रतलाम में पुरस्कृत किया गया। उक्त पुरस्कार के अंतर्गत उन्हें 51 हजार रुपए की राशि, वागीश्वरी देवी की धातु प्रतिमा, प्रशस्ति पत्र, शाल एवं श्रीफल प्रदान किया गया। उक्त पुरस्कार नेशनल नानवायलेंस यूनिटी फाउण्डेशन ट्रस्ट, रतलाम द्वारा प्रदान किया गया।

कार्यक्रम पूज्य आचार्य श्री सन्मतिसागरजी के 50वें संयमोत्सव पर उनके वरिष्ठतम शिष्य चतुर्थ पट्टाधीश आचार्य श्री योगीन्द्रसागरजी के ससंघ सान्निध्य में म.प्र. के आवास एवं पर्यावरण मंत्री श्री जयंत मलैया तथा स्वास्थ्य राज्य मंत्री श्री महेन्द्र हार्डिया के मुख्य आतिथ्य में शीतल तीर्थ रतलाम में सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम की अध्यक्षता राजस्थान के तकनीकी शिक्षा मंत्री श्री महेन्द्र मालवीय ने की। इस अवसर पर पूर्व गृह मंत्री श्री हिम्मत कोठारी, रतलाम विकास प्राधिकरण के अध्यक्ष श्री विष्णु त्रिपाठी, महापौर श्री शैलेन्द्र डागा, प्रो. पी.एन. मिश्र, प्रो. श्रेणिक बंडी, प्रो. रजनीश जैन, डॉ. संजय जैन, श्री रमेश कासलीवाल, पं. लालमणी जैन-ग्वालियर, श्री पदमचंद मोदी, पार्षद श्रीमती आशा सोनी, श्री होलास सोनी, श्रीमती सुमन जैन, श्रीमती कृष्णा जैन-ग्वालियर आदि कई गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। इस अवसर पर अपने आशीर्वचन में महाराज ने कहा **यह व्यक्ति नहीं गुणों का सम्मान है। डॉ. अनुपम जैन देव शास्त्र गुरु के प्रति अनन्य भक्ति रखते है। योजना के निर्माण, क्रियान्वयन एवं परिणाम प्राप्त होने तक वे निरन्तर समर्पित भाव से काम करते रहते है। इसके बावजूद विशेष बात यह है कि इनमें अहंकार नहीं है। जिनवाणी के प्रति इनका समर्पण स्तुत्य है। यह पुरस्कार प्रतिवर्ष डॉ. अनुपम जैन सदृश समर्पित विद्वान को दिया जाए ऐसी प्रेरणा मैंने फाउण्डेशन के पदाधिकारियों को दी है।**

स्वास्थ्य मंत्री श्री महेन्द्र हार्डिया ने कहा कि मैं अनुपम को बहुत नजदीक से जानता हूँ उनकी कार्यशैली, प्रतिभा एवं क्षमता अद्भुत है। मैं इनको वागीश्वरी पुरस्कार की प्राप्ति पर बधाई देता हूँ। फाउन्डेशन के पदाधिकारियों के अनुरोध पर श्री हार्डियाजी ने शीतल तीर्थ परिसर में भूमि उपलब्ध कराये जाने पर **'आयुष' विभाग के अन्तर्गत आयुर्वेदिक अस्पताल खोले जाने की घोषणा।** शीतलतीर्थ के समीपवर्ती ग्रामों के ग्रामीणों के स्वास्थ्य की चिन्ता करते हुए यहाँ अस्पताल खोले जाने की योजना एवं माननीय मंत्री श्री हार्डियाजी की तात्कालिक स्वीकृति की

सभी ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। माननीय मंत्री श्री जयंत मलैया जी ने भी डॉ. अनुपम जैन को बधाई दी। इस अवसर पर मिर्जा मकसूद सा. ने आचार्यश्री के संबंध में कविता का पाठ किया।

सम्मान के प्रत्युत्तर में अपनी कृतज्ञता करते हुए डॉ. अनुपम जैन ने कहा कि 'मैं 1988 से पूज्य आचार्यश्री से सुपरिचित हूँ। उनके जीवन का एकपक्ष तो सामने आया है किन्तु दूसरा पक्ष आज भी उपेक्षित है। गुरुदेव का अध्ययन गहन/गंभीर है एवं आगम के सिद्धान्तों पर उनकी दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट है। वे सम्यग्दर्शन के वात्सल्य अंग के तहत जब पीड़ितों की मदद करते है तब उन्हें विधर्मियों तथा हिंसक उपायों का सहारा लेने वाले पाखण्डियों के हाथ की कठपुतली बनने से बचा लेते है। पीड़ितों को स्वस्थ कर उनके जीवन की दिशा को धर्म मार्ग में प्रवृत्त कराना तथा धर्म, समाज एवं राष्ट्र के प्रति निष्ठावान नागरिक तैयार करना उनका लक्ष्य रहता है।

मात्र इतना ही नहीं उन्होंने हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में भी विपुल परिमाण में साहित्य सृजन किया है। उनके द्वारा लिखे गये 5000 दोहे, संस्कृत की स्तुतियाँ, धार्मिक साहित्य की अमूल्य निधि हैं । उनके दोहे कबीर, रहीम, एवं भूधर की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। उनके द्वारा जोनि पाहुण, झाणज्झयण पाहुड आदि अनेक अज्ञात/अचर्चित प्राचीन पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रंथों के अनुवाद के माध्यम से उनके उद्धार के प्रयास किये जा रहे हैं। हालही में उन्होंने 6 शतक लिखे हैं जिनमें जीवन के लिए दिशा, व्यंग्य एवं समन्वयात्मक चित्रण है। प्राचीन पांडुलिपियों की शोध-खोज में आप पिछले 7 सालों से मुझे पूरा आशीर्वाद एवं सहयोग दे रहे है। आज का पुरस्कार भी उनके, आशीर्वाद का प्रतीक है मैं उनके चरणों में विनयावनत हूँ एवं उन्हें विश्वास दिलाता हूँ कि आगे भी इस दिशा में कार्य करता रहूँगा।'

प्रशस्ति पत्र का वाचन डॉ. संजीव सराफ वाराणसी ने किया। कार्यक्रम का सशक्त संचालन डॉ. सविता जैन ने किया एवं आभार श्री डी.के. जैन ने माना।

50 विद्वानों का सम्मान–पुरस्कार समर्पण के अवसर पर देश के 50 मूर्धन्य विद्वानों को आमंत्रित कर सम्मानित किया गया। सम्मान में प्रशस्तिपत्र, साहित्य श्रीफल एवं पत्र-पुष्प समर्पित किये गये। सम्मानित प्रमुख विद्वान निम्नवत् है–

पं. देवेन्द्र शास्त्री–आगरा (उ.प्र.), डॉ. रीना जैन–बीना (म.प्र.), प्रो. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'–दमोह, प्रो. टीकमचंद जैन–दिल्ली, डॉ. विमला जैन 'विमल'–फिरोजाबाद, श्री लालमणि प्रसाद जैन–ग्वालियर (म.प्र.), डॉ. (श्रीमती) कृष्णा जैन–ग्वालियर (म.प्र.), श्री अभय बाकलीवाल–इन्दौर (म.प्र.), ब्र. अनिल शास्त्री–इन्दौर (म.प्र.), श्री अशोक शास्त्री–इन्दौर (म.प्र.), श्री जयकुमार जैन 'गोधा'–इन्दौर (म.प्र.), श्री जयसेन जैन–इन्दौर (म.प्र.), प्रो. पी.एन. मिश्र–इन्दौर (म.प्र.), डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन–इन्दौर (म.प्र.), डॉ. (श्रीमती) प्रगति जैन–इन्दौर (म.प्र.), डॉ. प्रेमकुमार जैन 'शिक्षाविद्'–इन्दौर (म.प्र.), प्रो. रजनीश जैन–इन्दौर (म.प्र.), श्री रमेश कासलीवाल–इन्दौर (म.प्र.), डॉ. (श्रीमती) रेखा जैन–इन्दौर (म.प्र.), डॉ. संजय जैन–इन्दौर (म.प्र.), डॉ. (श्रीमती) संगीता विनायका–इन्दौर (म.प्र.), श्री सुभाष गंगवाल–इन्दौर (म.प्र.), श्री सुभाषचंद जैन–इन्दौर (म.प्र.), श्रीमती सुमन जैन–इन्दौर (म.प्र.), श्रीमती सुरेखा जैन–इन्दौर (म.प्र.), डॉ. सुरेखा मिश्रा–इन्दौर (म.प्र.), श्री सूरज जैन–इन्दौर (म.प्र.), श्री सूरजमल बोबरा–इन्दौर (म.प्र.), डॉ. (श्रीमती) सुशीला सालगिया–इन्दौर (म.प्र.), प्रो. श्रेणिक बंडी–इन्दौर (म.प्र.), श्रीमती उषा पाटनी–इन्दौर (म.प्र.), पं. खेमचंद जैन–जबलपुर (म.प्र.), श्री पारस जैन पाटनी–कोटा (राज.), पं. राकेश जैन–कोटा, पं. लालचंद जैन 'राकेश'–ललितपुर, पं. शीतलचंद जैन 'प्राचार्य'–ललितपुर (उ.प्र.), पं. कोमलचंद्र जैन-लोहारिया, पं. वृषभसेन उपाध्ये–मालगांव (महा.), डॉ. देवकुमार जैन–रायपुर (छ.ग.), पं. उपेन्द्र 'अणु' ऋषभदेव–केसरियाजी, पं. वारिषेण जैन 'ऋषभदेव'–केसरियाजी, श्री राजेन्द्र जैन 'महावीर'–सनावद (म.प्र.), पं. शिखरचंद जैन–सागर (म.प्र.), पं. पदमचंद जैन 'शास्त्री' साहिबाबाद, श्री सुरेश जैन 'मारौरा'–शिवपुरी (म.प्र.), पं. संतोष जैन–उज्जैन, डॉ. रानी सराफ–वाराणसी, डॉ. संजीव सराफ–वाराणसी (उ.प्र.), डॉ. विवेकानंद–वाराणसी (उ.प्र.) श्री उत्सव जैन-नौगामा (राज.) पूरा कार्यक्रम अत्यन्त गरिमामय एवं प्रभावी रहा। कुछ विद्वान अपरिहार्य कारणों से नहीं पधार सके।

सिद्धांतरत्नाकर, खण्ड विद्याधुरन्धर, चतुर्थ पट्टाधीश
108 आचार्य श्री योगीन्द्रसागरजी महाराज

के आचार्य पदारोहण दिवस (16 जनवरी) के उपलब्ध में आयोजित

अखिल भारतीय निबंध प्रतियोगिता

शीर्षक	-	भारतीय संस्कृति के विकास में श्रमण परम्परा का अवदान (आ. योगीन्द्रसागरजी महाराज के विशेष संदर्भ में)
शब्द सीमा	-	न्यूनतम 5000 शब्द
अंतिम तिथि	-	29 फरवरी 2012
पात्रता	-	कोई भी भारतीय नागरिक (स्त्री या पुरुष)
प्रविष्टि	-	निबंध प्रांतीय संयोजकों / केन्द्रीय संयोजक के पास सुवाच्य हस्तलिपि अथवा ए-4 साईज के कागज पर टंकित कराकर 2 प्रतियों में अंतिम तिथि के पूर्व जमा किये जाने चाहिए।

पुरस्कार -

प्रथम	-	11000/- एवं प्रमाणपत्र
द्वितीय	-	5000/- एवं प्रमाणपत्र
तृतीय	-	3000/- एवं प्रमाणपत्र
विशेष	-	युवा वर्ग हेतु विशेष पुरस्कारों की व्यवस्था है।
सांत्वना	-	समस्त प्रतिभागियों को सांत्वना पुरस्कार एवं प्रमाण पत्र प्रदान किया जायेगा।

संयोजकगण -

1. केन्द्रीय संयोजक -
डॉ. अनुपम जैन, 'ज्ञानछाया', डी-14, सुदामा नगर, इन्दौर-452009 (म.प्र.) मोबा. : 09425053822

2. म.प्र. प्रांतीय संयोजक -
(अ) प्रो. भागचन्द जैन 'भागेन्दु', सरोज सदन, 28, सरस्वती कॉलोनी, दमोह-470661 (म.प्र.) मोबा.: 09425455338
(ब) डॉ. नरेन्द्र कुमार 'जैन'
ए-27, नर्मदा विहार, खरगोन रोड़, सनावद 451111, मोबा. 09924068843
छत्तीसगढ़ प्रांतीय संयोजक - डॉ. देवकुमार जैन, प्राध्यापक-हिन्दी, शास्त्री सदन, गणेशराम नगर, रायपुर-492001 (छ.ग.) मोबा. : 09424230536

3. दिल्ली प्रांतीय संयोजक -
प्रो. टीकमचन्द जैन, एम-84, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 मोबा. : 09810279707

4. राजस्थान प्रांतीय संयोजक -
श्री राकेश जैन, 12 आदित्य विला, गुलाबवाड़ी, रामपुरा, कोटा (राज.) मोबा. : 09829097646

5. उ.प्र. प्रांतीय संयोजक -
(अ) श्री सुरेश जैन 'ऋतुराज', तुलसी साहित्य पब्लिकेशन, ईश्वरपुरी, ओडियन्स सिनेमा के पास, मेरठ (उ.प्र.) मोबा. : 09837481839
(ब) डॉ. संजीव सराफ, उपपुस्तकालयाध्यक्ष, B.H.U. न्यू एल-28, हैदराबाद कॉलोनी, बी.एच.यू. परिसर, वाराणसी, 09450533305

सभी धर्मप्रेमी महानुभाव अधिकाधिक संख्या में अपने आलेख भेजकर श्रमण परम्परा के अवदान को दिग्दिगन्तव्यापी बनाये।

डॉ. सविता जैन
अधिष्ठात्री-दि. जैन धर्मस्थल, 'शीतल तीर्थ' क्षेत्र,
बांसवाड़ा रोड़, रतलाम (म.प्र.)
फोन : 07413-28199, मोबा. : 9425355741

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर द्वारा प्रदत्त

स्व. श्री प्रदीपकुमार रामपुरिया स्मृति साहित्य पुरस्कार हेतु प्रविष्टियां आमंत्रित

श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर द्वारा विगत कई वर्षों से उत्कृष्ट साहित्य पर **स्व. श्री प्रदीपकुमार रामपुरिया स्मृति साहित्य पुरस्कार** प्रदान किया जाता रहा है। वर्ष 2011 हेतु साहित्य पुरस्कार प्रविष्टि सादर आमंत्रित है। यह साहित्य पुरस्कार जैन धर्म, दर्शन, इतिहास, कला एवं संस्कृति तथा जैन साहित्य, काव्य कला, निबंध, नाटक, संस्मरण एवं जीवनी आदि के संबंध में लिखित मौलिक ग्रंथ पर दिया जाता है। चूंकि यह वर्ष संघ का स्वर्ण जयंती वर्ष है अतः इस बार यह पुरस्कार रु. 51 हजार नकद के स्थान पर रु. 1,00,000 नकद, शॉल, श्रीफल व प्रशस्ति पत्र अर्पित किया जाता निश्चित किया है।

पुरस्कार चयन के लिये निर्धारित नियम निम्नानुसार हैं -

1 अन्य संस्थाओं द्वारा पूर्व में पुरस्कृत कृति पर यह पुरस्कार नहीं दिया जावेगा।

2. पुरस्कार हेतु प्रकाशित / अप्रकाशित (पाण्डुलिपि) दोनों प्रकार की कृतियां निर्धारित आवेदन पत्र के साथ 26 जनवरी 2012 से पूर्व प्रस्तुत की जा सकती हैं।

3. प्रकाशित कृति का प्रकाशन वर्ष 2004 से 2011 के मध्य होना चाहिये।

4. पुरस्कार मूल्यांकन के लिये कृति की मुद्रित 4 प्रतियां एवं पाण्डुलिपि की 1 प्रति निःशुल्क भेजनी होगी। कृतियां पुनः नहीं लौटाई जावेगी।

5. अप्रकाशित कृति (पाण्डुलिपि) की प्रति स्पष्ट टंकण की हुई अथवा हस्तलिखित सुवाच्य एवं जिल्द बंधी होनी चाहिये।

6. पुरस्कार हेतु प्रतिभागी विद्वानों के लिये यह आवश्यक होगा कि वे कृति के संबंध में स्वयं की कृति होने एवं इसके मौलिक होने का प्रमाण पत्र कृति के साथ भेजें।

7. आवेदन पत्र मंगवाने एवं पुरस्कार प्रतियोगिता हेतु कृति भेजने का पता निम्न रहेगा -
श्री पीरदान पारख, संयोजक - स्व. श्री प्रदीपकुमार रामपुरिया स्मृति साहित्य पुरस्कार
द्वारा - श्री अ.भा.सा. जैन संघ, समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग,
श्री जैन पी.जी. कॉलेज के सामने, नोखा रोड़, गंगाशहर, बीकानेर - 334401 (राज.)।

निःशुल्क प्राप्त करें

श्री जयचन्दजी छाबड़ा कृत **'भक्तामर स्तोत्र भाषा वचनिका'** प्रत्येक श्लोक पर तथा कल्याणकों पर चित्र, समीक्षात्मक टिप्पणी के साथ गत वर्ष सन्मति ट्रस्ट ने प्रकाशित की थी। जो ऐतिहासिकता लिए हुए है। भक्तामर स्त्रोत का अपने ढंग का पहला अनूठा प्रकाशन है। कुछ प्रतियां शेष रह गई है। मुनियों, त्यागियों, शोध - संस्थानों, पुस्तकालयों, स्वाध्याय प्रेमियों में ट्रस्ट निशुल्क वितरण करना चाहता है। जिन्हें चाहिए एक पोस्टकार्ड में अपना नाम, पता, पिन नं., फोन नं., आदि लिखकर निम्न पते पर भेज दे।

सन्मति ट्रस्ट, ए-18, संजय मेन्शन, 2 माला, 448 कालबादेवी रोड, भांगवाडी, मुम्बई-400002

मैनपुरी में वाग्भारती पुरस्कार समर्पण समारोह

पूज्य मुनि श्री को शास्त्र भेंट करते डॉ. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ

प.पू. अंतर्मना मुनि श्री प्रसन्न सागर जी महाराज के ससंघ सान्निध्य में श्री दि. जैन बड़ा मंदिर, मैनपुरी पर दिनांक 12 से 14 नवम्बर 2011 तक त्रिदिवसीय कार्यक्रम ऐतिहासिक, अभूतपूर्व धर्म प्रभावना के साथ आयोजित किये गये।

नगर के विद्वान व चिकित्सक डॉ. सुशील जैन द्वारा स्थापित वाग्भारती ट्रस्ट ने चार विद्वानों को वाग्भारती पुरस्कार से सम्मानित करते हुए **'धर्मगौरव'** की उपाधि से अलंकृत किया। इस पुरस्कार की स्थापना दाहोद (गुजरात) में 01-09-1998 को प. पू. मुनि श्री प्रज्ञासागरजी एवं मुनिश्री प्रसन्नसागर जी के सान्निध्य में डॉ. सुशील जैन द्वारा उन्हें आ. श्री पुष्पदंत सागर पुरस्कार से सम्मानित करने के शुभ अवसर पर की गयी थी। वाग्भारती पुरस्कार से पुरस्कृत होने वाले विद्वान हैं -

डॉ. प्रद्युम्न कुमार जैन, रुद्रपुर, **पं. शिवचरणलाल जैन, मैनपुरी।**
डॉ. मालती जैन, मैनपुरी, **प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ।**

सभी विद्वानों को 11 हजार रुपये की राशि के साथ ही प्रशस्ति पत्र, शॉल, माल्यार्पण, प्रतीक चिन्ह व **'धर्म गौरव'** की उपाधि से सम्मानित किया गया।

सायंकालीन सत्र में गुरुभक्ति व आनन्द यात्रा के बाद देश के जाने माने कवि श्री चन्द्रसेन जैन भोपाल के संयोजकत्व में कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें भोपाल से श्रीमती सीमा जैन, बीना से हेमन्त तिवारी, उरई से नीलम कश्यप, झांसी से दिव्य 'पारदर्शी' व जालौन से रवीन्द्र शर्मा पधारे। कवि सम्मेलन देर रात तक बड़े ही मर्यादित ढंग से शालीनतापूर्वक सम्पन्न हुआ। उपस्थित अपार जनसमूह ने कवि सम्मेलन की बहुत प्रशंसा की।

डॉ. प्रद्युम्न कुमार जैन, रुद्रपुर को सम्मानित करते डॉ. सुशील जैन

कवि सम्मेलन के पूर्व वाग्भारती पुरस्कार से सम्मानित विद्वानों के प्रवचन भी आयोजित किए गए। प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन, फिरोजाबाद की कार्यक्रम में उपस्थिति उल्लेखनीय रही। डॉ. सुशील जैन, के सुपुत्र डॉ. सौरभ जैन एवं परिवार के अन्य सभी सदस्यों की भी कार्यक्रम में सक्रिय सहभागिता रही।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में व्याख्यान

भगवान महावीर का वर्तमान समाज को अवदान

वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ में जैन विश्व भारती-लाडनूँ से पधारी विदुषी समणी शारदाप्रज्ञा जी का 'भगवान् महावीर का वर्तमान समाज को अवदान' विषय पर व्याख्यान हुआ। भगवान महावीर ने लोक तत्व, उपभोग - परिभोग परिग्रह का परिमाणव्रत दिया जिसके पालन से सामाजिक विषमता का सर्वथा अंत हो जाएगा। नक्सलवाद आदि समस्याओं का अंत हो जाएगा। महावीर का धर्म व्यक्तिनिष्ठ है। व्यक्ति के कल्याण से मानव कल्याण का सिद्धांत सम्भव है। महावीर ने ईश्वर के स्थान पर मनुष्य की प्रतिष्ठा की। आत्मा अपने पुरुषार्थ से उच्चतम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। महावीर ने भाग्यवाद को पुरुषार्थवाद में बदल दिया। भगवान् महावीर ने मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति को संयमित करने का उपदेश दिया। भगवान् महावीर ने त्याग को पूज्य बताया, ऋद्धि और समृद्धि को नहीं। जैन शासन में सामाजिक आधार, जाति-पांति के आधार पर कोई भेद नहीं। वेश को प्रमुखता न देकर इन्द्रिय विजय को प्रमुखता दी। साध्य, साधन की शुद्धता पर बल दिया। अहिंसा के प्रायोगिक स्वरूप पर भगवान ने बल दिया। लोक को नष्ट करने वाला अपने आप को नष्ट कर लेता है।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के धर्म विज्ञान संकाय के प्रमुख प्रो. डॉ. आर.सी. पण्डा ने कहा - **'समाज के सभी वर्गों को धर्म और दर्शन जानना आवश्यक है क्योंकि उत्तम आध्यात्मिक सुख के अभाव में भौतिक सुखों की पूर्णता नहीं। दर्शन लक्ष्य के उपयोग को प्रतिपादित करता है। धर्म केवल धारण ही नहीं करता अपितु पुष्टि भी करता है। धर्म उत्तम सुख (मोक्ष) को धारण करता है। व्यक्ति को इस मार्ग से विचलित नहीं होने देता है। अतः धर्म का पालन सभी के लिए आवश्यक है। धर्म, कर्म का विनाशक है। धर्म से पुरुषार्थ को प्राप्त करना चाहिए।**

मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय धर्मविज्ञान संकाय के पूर्व प्रमुख **प्रो. कृष्णकांत शर्मा** ने कहा - समन्वय की दृष्टि से कहा जा सकता है कि महावीर हों या कृष्ण या अन्य कोई मनीषी हो, उनके उपदेश, सिद्धांत उनके समय की तुलना में आज वर्तमान में ज्यादा प्रासंगिक है। अपरिग्रह, अहिंसा आज की ज्वलंत समस्याओं उग्रवाद, विषमता आदि का समाधान कर सकते हैं। परिग्रह हिंसा का कारण है। उपभोग से तृष्णा समाप्त नहीं हो सकती। तृष्णा का पार नहीं पाया जा सकता। इसका अंत नहीं हो सकता। तृष्णा पर अंकुश के अभाव में सह अस्तित्व की भावना जन्म नहीं ले सकती। हम दूसरे के बारे में सोच नहीं सकते। हिंसा को समझे बिना अहिंसा को समझा नहीं जा सकता। हिंसा, कृता , कारिता, अनुमोदित तीन तरह की होती है। मन, वचन और काय से हिंसा नहीं करना चाहिए। समन्वय से ही समाज का कल्याण संभव है।

कार्यक्रम का आरम्भ पूज्य महाराज प्रशमरति विजय के मंगलाचरण से हुआ। विद्यापीठ की गतिविधियों पर प्रकाश विद्यापीठ के संयुक्त निदेशक (स्थापना) डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय ने डाला। संस्थान के निदेशक (शोध) प्रो. **सुदर्शन लाल जैन** ने अतिथियों का परिचय दिया एवं विषय पर प्रकाश डाला। कार्यक्रम का संचालन विद्यापीठ के शोध अध्येता डॉ. नवीन कुमार श्रीवास्तव और धन्यवाद ज्ञापन एसोसिएट प्रोफेसर डॉ. अशोक कुमार सिंह ने किया।

लखनऊ में राष्ट्रीय दिगम्बर जैन विद्वत् सम्मेलन सम्पन्न

पूजय मुनि श्री सौरभसागरजी के सान्निध्य में देश में प्रथम बार डालीगंज लखनऊ के प्रांगण में 15-16 अक्टूबर 2011 को राष्ट्रीय दि. जैन विद्वत् महासम्मेलन सम्पन्न हुआ जिसमें,

अ.भा. दि. जैन शास्त्रि परिषद **तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ**

अ. भा. दि. जैन विद्वत् परिषद

शीर्षक वर्तमान में दि. जैन समाज में कार्यरत तीनों विद्वत् संगठनों ने सक्रिय सहभागिता दी एवं शताधिक विद्वान सम्मिलित हुए। सम्मेलन में 4 अन्य प्रस्तावों के सहित निम्न प्रस्ताव पारित किया गया।

'परम पूज्य मुनि श्री सौरभ सागरजी महाराज (ससंघ) के सान्निध्य में दि. 15 एवं 16 अक्टूबर 2011 को आयोजित विद्वत् महासम्मेलन में सम्मिलित संस्थाएं :-

अ.भा. दि. जैन शास्त्रि परिषद तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ

अ.भा. दि. जैन विद्वत् परिषद भा. दि. जैन धर्म संरक्षिणी महासभा

यह प्रस्ताव करती हैं कि सभी संस्थाओं को मिलाकर एक समन्वय समिति बनाई जाये, जिसमें उनके प्रमुख पदाधिकारी अध्यक्ष, महामंत्री, कोषाध्यक्ष सम्मिलित हो तथा यह मिलकर चाहे तो 5 अन्य विषय विशेषज्ञ विद्वानों को सम्मिलित करें। यह समन्वय समिति मिलकर जिन विषयों पर धार्मिक विवाद है उन पर प्रचलित परम्परा और पद्धति के आलोक में विचार करे एवं समुचित मार्गदर्शन करे ताकि समाज में समन्वय, संगठन एवं सौहार्द्र बना रहे। एकमत होने पर ही मार्गदर्शन या सुझाव को स्वीकृत माना जायेगा।

इस प्रस्ताव में पत्र सम्पादक संघ, अ.भा. दि. जैन महासमिति, भा. दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, दक्षिण भारत जैन सभा को भी सम्मिलित किया गया। इस समिति के संयोजक श्री प्रदीप पाटनी लखनऊ होंगे तथा कोरम 11 सदस्यीय रहेगा।

सम्मेलन अत्यन्त सफल रहा। 17 आलेखों को भी प्रस्तुत किया गया।

Congratulation

We glad to inform you all that **Dr. Anil Jain,** S/o Late Shri Hotilal Jain, Firozabad, (UP) has been awarded Ph.D. Degree in Eco Philosophy titled **"Jainism Prespective about Environment & Ecology - A critical Study"** from Mumbai University.

This Ph.D. thesis has been rated worth of publication & will be pioneered for today's gereration.

This thesis gives insight & prospect that how Jainism principles conserve & protect the ecology & environment & has also proved that "Lord Mahavir" was the greatest Ecologist of his age.

Dr. Jain has been a bright student since his childhood & presently he is working in a senior position as Vice President & Head - Health, Safety & Environment at ESSAR STEEL LTD., India.

Contact : Dr. Anil Jain, 9909901224

Dr. Anupam Jain, Editor

तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ द्वारा आयोजित निबंध प्रतियोगिता के पुरस्कार वितरित

तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ द्वारा **चारित्रचक्रवर्ती प्रथमाचार्य शांतिसागर वर्ष** में आयोजित द्विस्तरीय निबंध प्रतियोगिता के परिणाम निम्नवत् घोषित किये गये।

प्रौढ़ वर्ग :-

विषय :- आचार्य श्री शांतिसागरजी एवं श्रमण परम्परा : कल, आज और कल

प्रथम पुरस्कार :- रुपये 5000/-

श्रीमती नीला जोहरापुरकर जैन, द्वारा श्री अनिल कुमार जोहरापुरकर, लाड़पुरा, इतवारी, नागपुर (महा.)

द्वितीय पुरस्कार :- रुपये 3000/-

श्री रजत जैन, 195, भवानी मार्ग, सनावद-451111, जिला खरगोन (म.प्र.)

तृतीय पुरस्कार :- रुपये 2000/-

श्रीमती कुसुम राजकुमार जैन, राज इलेक्ट्रिकल्स, निचला बाजार, शिवपुरी (म.प्र.)

युवा वर्ग :-

विषय :- चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा का श्रमण संस्कृति को अवदान

प्रथम पुरस्कार :- रुपये 3000/-

श्रीमती निकिता वैभव जैन, द्वारा जम्बूद्वीप ज्वैलर्स, सनावद, जिला खरगोन (म.प्र.)

द्वितीय पुरस्कार :- रुपये 2000/-

कु. अल्पना जैन, पिता श्री कमलकुमार जैन, ग्राम – लार, जिला टीकमगढ़ (म.प्र.)

तृतीय पुरस्कार :- रुपये 1000/-

कु. परिधि जैन, पिता श्री मुकेश जैन, C/o रॉयल हॉस्पिटल एंड रिसर्च सेंटर, गढ़ा क्रासिंग, जबलपुर (म.प्र.)

चयनित आलेख के लेखकों को पुरस्कार दिनांक 09.10.11 को मध्यान्ह 1.00 से 4.00 बजे के मध्य जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) में सम्पन्न विद्वत् महासंघ के अधिवेशन में पुरस्कार प्रदान किये जाएंगे। आलेख प्रेषित करने वाले अन्य सभी महानुभावों को भी सांत्वना पुरस्कार प्रदान किये जायेंगे।

समारोह को पूज्य गणिनी प्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का ससंघ पावन सान्निध्य प्राप्त रहा। समारोह के अन्त में पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी एवं गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी का मंगल आशीर्वचन हुआ।

डॉ. अनुपम जैन
महामंत्री

जम्बूद्वीप तीर्थ पर त्रिदिवसीय शरदपूर्णिमा महोत्सव में पुरस्कार समर्पण एवं संगोष्ठी आदि कार्यक्रम सम्पन्न

तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ का पुरस्कार डॉ. प्रगति जैन, इन्दौर को

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी के 60वें त्यागदिवस एवं 78वीं जन्मजयंती के शुभ अवसर पर दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान-हस्तिनापुर द्वारा आयोजित त्रिदिवसीय शरदपूर्णिमा महोत्सव भारी हर्षोल्लास के साथ दिनांक 9-10-11 अक्टूबर 2011 को सानंद सम्पन्न हुआ। विशेषरूप से महोत्सव में अनेक प्रतिभाओं को संस्थान के विभिन्न पुरस्कारों का समर्पण तथा विद्वानों व प्रबुद्धजनों द्वारा 'खानपान एवं खानदान शुद्धि' विषय पर संगोष्ठी का सुंदर आयोजन सानंद सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर देश के विभिन्न प्रान्तों से हजारों श्रद्धालुओं ने भाग लेकर पुण्य अर्जित किया। सम्पूर्ण कार्यक्रम का मार्गदर्शन प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी द्वारा, निर्देशन पीठाधीश क्षुल्लक श्री मोतीसागर जी महाराज तथा संयोजन कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्र कुमार जैन द्वारा कुशलतापूर्वक किया गया। कार्यक्रम में जम्बूद्वीप स्थित णमोकार महामंत्र बैंक के लेखकों को भी हीरक, स्वर्ण एवं रजत पदक से सम्मानित कर प्रमाणपत्र दिये गये।

महोत्सव के द्वितीय दिवस प्रातःकाल प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज, प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर जी महाराज एवं गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी की पूजन का आयोजन भव्यतापूर्वक सम्पन्न हुआ। इस दिन मध्यान्ह में संस्थान द्वारा अनेक विभूतियों को विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ द्वारा प्रवर्तित ''श्रीमती चंदारानी जैन स्मृति पुरस्कार-2011'' युवा गणितज्ञ डॉ. प्रगति जैन-इन्दौर को प्रदान किया गया, यह पुरस्कार श्री कैलाशचंद जैन आदीश कुमार जैन सर्राफ-लखनऊ परिवार द्वारा प्रदान किये गये।

डॉ. प्रगति जैन ने पुरस्कार प्राप्ति पर कहा कि आचार्य वीरसेन के गणितीय अवदान पर कार्य करते समय जब मैं निराश होने लगी तब पूज्य गणिनी ज्ञानमती माता जी ने ही मुझे सम्बल प्रदान किया था।

इस दिन सायंकाल में बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज के वंश परम्परा के वर्तमान परिवारजनों का भव्यतापूर्वक सम्मान किया गया। इस अवसर पर आचार्य महाराज के उपस्थित परिवार में उनके पौत्र-पौत्री, नाती-नातिन, पड़पोते-पड़पोती आदि महानुभावों ने भोज, बेलगांव, पुणे, मुम्बई, कोल्हापुर आदि स्थानों में लगभग 30 की संख्या में पधारकर संस्थान का सम्मान स्वीकार किया। कार्यक्रम में गतवर्ष शांतिसागर वर्ष के अन्तर्गत कार्यक्रम करने वाले महानुभावों के साथ अ.भा. महिला संगठन को भी सम्मानित किया गया। मुख्यरूप से 11 अक्टूबर-शरदपूर्णिमा को प्रातःकाल जम्बूद्वीप स्थित सुमेरुपर्वत के समस्त 16 भगवन्तों का भव्य मस्तकाभिषेक आयोजित किया गया, जिसमें सैकड़ों भक्तों ने सिद्ध भगवन्तों का अभिषेक करके पुण्य अर्जित किया। कार्यक्रम में विशेषरूप से संस्थान का सर्वोच्च पुरस्कार **''गणिनी ज्ञानमती पुरस्कार''** महाराष्ट्र सरकार के जल संसाधन विभाग में मुख्य इंजीनियर तथा सेकेट्री के पद पर कार्यरत **इंजी. श्री हीरालाल तात्या जैन मेंढेगिरि-मुम्बई** को प्रदान किया गया। इस पुरस्कार में उन्हें 1 लाख रुपये की राशि के साथ तिलक, पगड़ी, शॉल, अंगवस्त्र, प्रशस्ति पत्र, प्रतीक चिन्ह आदि से सम्मानित किया गया।

-जीवन प्रकाश जैन

डॉ. कल्याण गंगवाल पूना को विश्व मैत्री सेवा सम्मान

जैन मिलन लखनऊ द्वारा श्री पुष्पवर्षा योग समिति के अंतर्गत संस्कार प्रणेता मुनिश्री 108 सौरभ सागरजी महाराज के पावन सान्निध्य में विश्वमैत्री दिवस एवं विश्वमैत्री सेवा सम्मान कार्यक्रम का आयोजन किया गया।

कार्यक्रम के मुख्य अतिथि वीर सुरेश चन्द्र जैन 'रितुराज' अध्यक्ष - भारतीय जैन मिलन तथा अतिविशिष्ट अतिथि वीर पुष्पराज जैन 'पम्पी' कन्नौज, वीर राजेन्द्र कुमार जैन, कार्याध्यक्ष - भारतीय जैन मिलन मेरठ, वीर विजय कुमार जैन, कार्याध्यक्ष - भारतीय जैन मिलन थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता वीर शैलेन्द्र जैन उपाध्यक्ष भारतीय जैन मिलन ने की।

वीर शैलेन्द्र जैन ने विश्व मैत्री सेवा सम्मान की विषयवस्तु पर विस्तार से प्रकाश डाला। तत्पश्चात् श्रीमती चिंतामणि जैन परिवार ने स्व. सवाईलाल जी जैन कन्नौज की स्मृति में दिया जाने वाला विश्व **मैत्री सम्मान वर्ष 2011** प्रख्यात चिकित्सक व शाकाहार समर्थक **डॉ. कल्याण मोतीलाल जैन गंगवाल, पुणे** को प्रदान किया। इस अवसर पर डॉ. कल्याण गंगवाल ने कहा कि वह भारत में ही नहीं वरन् विदेशों में भी शाकाहार का प्रचार– प्रसार कर रहे हैं। इसका जन जागरण करना मेरी प्राथमिकता रही है। इसी उद्देश्य से मैंने **शाकाहार से सुखी जीवन का मूलाधार** विषय पर 150 चित्रों की प्रदर्शनी श्रवणबेलगोला में लगाई। मेरे प्रयास का फल है कि 25 नवम्बर को पूरे विश्व में मांस रहित दिवस मनाया गया है।

इस अवसर पर श्री पुष्पराज जैन 'पम्पी' ने तीर्थों की सुरक्षा पर गहरी चिंता प्रकट करते हुए कहा कि इसकी रक्षा करना हम सभी जैनियों का फर्ज बनता है। उन्होंने सभी जैनियों को एकजुट होने का आव्हान किया। इस अवसर पर श्रीमती आरती जैन कन्नौज ने क्षमावाणी के विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला और कहा कि जैन मिलन का विस्तार सम्पूर्ण भारतवर्ष में तेजी से हो रहा है। इस अवसर पर संस्कार प्रणेता मुनिश्री 108 सौरभ सागरजी महाराज ने कहा कि **जिस प्रकार दूध फटने से घी खत्म हो जाता हे, मोती फटने से उसकी कीमत खत्म हो जाती है, हीरे में दरार आ जाने से उसकी कीमत खत्म हो जाती है इसी प्रकार मन फटने से प्रीत खत्म हो जाती है। उन्होंने जैनियों को एकजुट होने का आह्वान किया।** धन्यवाद ज्ञापन राष्ट्रीय संयुक्त मंत्री पी.एन. जैन ने दिया।

विद्वानों को आमंत्रण

दिगम्बर आम्नाय में दो ग्रंथ (1) षट्खण्डागम एवं (2) कषायपाहुडसुत्त पर पूज्य 108 आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने जो टीकाएं लिखी हैं (धवल, जयधवला एवं महाधवला) वे हमारे लिए महान ज्ञान के भंडार हैं। परंतु उन टीकाओं में भी आचार्य भगवन्त ने, पूर्व से परम्परित कुछ गाथाएं प्रमाणरूप में उद्धृत की हैं। वे गाथाएं हमारे लिए आगम के मूल आधार हैं। अतः उनका संकलन हम वीर सेवा मंदिर की ओर से कराना चाहते हैं। अतः हमारा विद्वानों से अनुरोध है कि वे इस कार्य में हमें अपेक्षित सहयोग प्रदान करें। इस कार्य के लिए उन्हें मानदेय की व्यवस्था भी की जा सकती है। उक्त कार्य विभिन्न विद्वान, पृथक-पृथक खंडों को लेकर भी कर सकते हैं। इस कार्य में जो भी विद्वान जुड़ेंगे उन्हें इस पुनीत ग्रंथराज का स्वाध्याय भी होगा, जिससे उनका विशेष ज्ञानार्जन के साथ पुण्यबंध होगा। इच्छुक मनीषी विद्वान, पत्र द्वारा सम्पर्क करें ताकि यह पुनीत कार्य आगे बढ़ सके।

पं. निहाल चन्द जैन,
निदेशक - वीर सेवा मंदिर,
21, दरियागंज, नईदिल्ली - 110002
दूरभाष - 011-23250522

पूर्व सांसद श्री डालचन्द जैन नहीं रहे

स्वतंत्रता सेनानी, निःस्वार्थ समाजसेवी, प्रसिद्ध उद्योगपति पूर्व सांसद दादा डालचंद जी जैन का दुःखद निधन रविवार, दिनांक 25 सितम्बर 2011 को सुबह उनके निवास स्थान सागर में हो गया। वे 83 वर्ष के थे। उनकी अंतिम यात्रा राजीव नगर वार्ड स्थित श्रीमंत भवन से निकाली गई। उनकी इस अंतिम यात्रा में कांग्रेस व अन्य राजनीतिक दलों के नेता, प्रशासनिक अधिकारी, समाजसेवी, डॉक्टर, वकील सहित समाज के सभी वर्गों के लोग शामिल हुए थे। प्रशासन की ओर से पुलिस की टुकड़ी ने 'गार्ड ऑफ ऑनर' के साथ उन्हें तिरंगा ओढ़ाया और पूरे राजकीय सम्मान के साथ उनका अंतिम संस्कार किया गया। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री सुरेश जैन ने मुखाग्नि दी।

समाज सेवा के कार्यों में गहरी रुचि रखने वाले श्री डालचन्द जी जैन, महावीर ट्रस्ट - म.प्र. के उपाध्यक्ष थे। दिगम्बर जैन परिषद के 14 वर्षों तक अध्यक्ष रहे। बीड़ी उद्योग संघ के कोषाध्यक्ष, मध्यप्रदेश फेडरेशन ऑफ चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स एवं इंडस्ट्री भोपाल के वरिष्ठ सलाहकार थे। शैक्षणिक क्षेत्र में आपका महान योगदान स्तुत्य रहा। आप डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर की कार्यकारिणी समिति एवं भा. दि. जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के सक्रिय सदस्य थे। श्री गणेशप्रसाद वर्णी संस्कृत महाविद्यालय ट्रस्ट, जैन उच्चतर माध्यमिक शाला एवं श्री भगवानदास शोभालाल चेरिटेबल ट्रस्ट के वर्षों से अध्यक्ष थे। आपने अमेरिका, कनाडा, इंग्लैंड, जर्मनी, हांगकांग, सिंगापुर आदि देशों की यात्राएं भी की हैं और अनेक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भारत का प्रतिनिधित्व भी किया है। अपने दो पुत्रों – श्री सुरेश एवं श्री उदय तथा 6 पुत्रियों एवं नाती, पोते का एक भरा-पूरा परिवार छोड़ गये हैं।

लेखनी के धनी श्री बाल पाटिल, मुंबई का दुःखद निधन

यह सूचित करते हुए अत्यन्त दुःख हो रहा है कि जैन समाज के कर्मठ कार्यकर्ता एवं लेखनी के धनी श्री बाल पाटिल का दुःखद निधन शुक्रवार, दिनांक 7 अक्टूबर, 2011 को मुंबई में हो गया।

श्री बाल पाटिल जैन समाज के एक प्रतिभावान व्यक्तित्व वाले कुशल लेखक हीं नहीं, अपितु निर्भीक वक्ता व बुद्धि के उतने ही प्रखर थे। आपका जन्म 19 नवम्बर 1932 को सांगली (महाराष्ट्र) के एक साधारण परिवार में हुआ था। बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद आपकी विशेष रुचि लेखन, पत्रकारिता में हुई और सन् 1960 से आपके शोधपूर्ण लेख टाइम्स ऑफ इंडिया, इकोनॉमिक टाइम्स एवं इंडियन एक्सप्रेस में प्रकाशित होने लगे। आपने अनेक पुस्तकों का अंग्रेजी में अनुवाद करके उसका प्रकाशन करवाया। डॉ. हीरालाल जैन द्वारा लिखित पुस्तक 'युगों–युगों में जैन धर्म' का अंग्रेजी में अनुवाद करके उसे प्रकाशित करवाने में आपका विशेष योगदान रहा। आपके अथक प्रयासों से ही महाराष्ट्र सरकार ने जैन धर्म को अल्पसंख्यक घोषित किया है। दिनांक 7 अक्टूबर 2011 को आपके हुए आकस्मिक दुःखद निधन से जैन समाज की अपूरणीय क्षति हुई है।

कुन्द कुन्द ज्ञानपीठ परिवार की विनम्र श्रद्धांजलि

श्रीमती सुंदरदेवी अग्रवाल का निधन

डॉ. पारसमल अग्रवाल की पूज्य मातुश्री सुंदरदेवी अग्रवाल का 87 वर्ष की वय में दिनांक 7 दिसम्बर 2011 को उदयपुर में देवलोक गमन हो गया है। जावद (म.प्र.) के मध्यमवर्गीय परिवार की 8 सुयोग्य पुत्र-पुत्रियों व भरे-पूरे परिवार की माता, जिनका जीवन जैन धर्म-दर्शन एवं जिनपूजा को समर्पित रहा है। ऐसी निष्काम कर्मयोगी दिवगंत दिव्यात्मा को कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ परिवार की विनम्र श्रद्धांजलि.... ॐ शांति।

श्री गणपतराय जैन का निधन

स्व. श्री मिश्रीलालजी काला के पुत्र श्री गणपतराय जी काला का आकस्मिक निधन 7 दिसम्बर 2011 को प्रातः 3.20 पर कोलकाता में हो गया। वे अपने 4 भाई 3 पुत्र एवं 2 पुत्रियों का भरापूरा परिवार छोड़ गये हैं। आपका जन्म 25.02.1941 को चाईबासा में हुआ था।

ज्ञातव्य है कि काला परिवार मिश्रीलाल पद्मावती जैन फाउण्डेशन के माध्यम से अनेक पारमार्थिक गतिविधियों को संचालित करता है। आप विद्या भारती समिति रांची, रोटरी क्लब चाईबासा तथा अन्य अनेक शिक्षण संस्थाओं से जुड़े थे। कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुस्तकालय, इन्दौर को भी आपके द्वारा अनेक अवसरों पर उदात्त सहयोग प्राप्त हुआ है। वर्तमान में भी अनेक के माध्यमों से देश विविध धार्मिक/ सामाजिक गतिविधियाँ संचालित हो रही हैं। आप अत्यन्त सरल स्वभावी, मृदुभाषी, धर्म परायण व्यक्ति थे। कलकत्ता की जैन समाज ही नहीं अपितु समस्त समाजों में आप अत्यन्त लोकप्रिय थे। कुन्द कुन्द ज्ञानपीठ परीक्षा संस्थान की मंत्री श्रीमती विमला कासलीवाल आपकी छोटी बहन है। इस दुःखद प्रसंग पर 9 दिसम्बर 2011 को कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुस्तकालय में सायं 5.00 बजे दिवंगत आत्मा की मुक्ति एवं शोक संतप्त परिवार हेतु धैर्य की कामना की गई।

राजेन्द्र कुमारजी सेठी का निधन

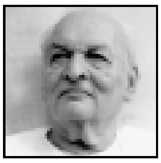

19 जून 1920 में जन्में श्री राजेन्द्र कुमारजी आत्मजश्री भंवरलाल जी सेठी, विनोदीराम बालचंद फर्म के मालिक, जिनके पुरखे 1920 में ही झालावाड़ पाटन से इंदौर आकर बस गये। सन् 1942 में आपने प्रो. बोरगांवकर के मार्गदर्शन में अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. पूर्वार्ध किया व हिन्दी साहित्य समिति की गतिविधियों से जुड़े। व्यवसाय से वे प्रथम पंक्ति के उद्योगपति (विनोद स्टील्स व विनोद मिल्स) व कालोनाइजर्स (सन 1949 में जावरा कम्पाउण्ड व बाद में अनूप नगर, कैलाश पार्क व शांति नगर के विकासकर्ता) के रूप में सदा याद किए जाएंगे।

साहित्य, इतिहास, पुरातत्व व मुद्राशास्त्र के प्रति अध्ययन व अनुसंधान के प्रति उनकी सदैव गहन अभिरुचि रही व कई शोध पत्र उन्होंने न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया के जरनल व न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल, न्यूमिस्मेटिक डाइजेस्ट, म.प्र. इतिहास परिषद के जरनल, प्राच्य प्रतिभा व न्यूमिस्मेटिक व सिंग्लियोग्राफी के जरनल में लिखे। सन् 1975 में 63 वें अखिल भारतीय अधिवेशन (न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया) लन्दन में उज्जैन के प्राचीन सिक्कों पर रोचक शोध पत्र पढ़ा। आप जीवन पर्यन्त एकेडमी ऑफ इंडिया न्यूमिस्मेटिक एण्ड सिंग्लियोग्राफी के अध्यक्ष रहे और कई वर्षों तक कार्यकारिणी के सदस्य भी। सन् 1974-75 में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण नई दिल्ली के महानिदेशक डॉ. एम.ए. दशानंद के निर्देशन में प्राचीन सिक्कों को ऐन्टीक्विटी एक्ट की परिधि से मुक्त कराने संबंधी त्रिसदस्यीय समिति के आप सक्रिय सदस्य नियुक्त किये गये व उनकी बौद्धिक कुशलता के परिणाम स्वरूप प्राचीन सिक्कों को पंजीकरण से मुक्त रखा गया। शोध कार्य हेतु आपने हांगकांग, बैंकाक, सिंगापुर, जकार्ता, बाली, पेरिस, जिनेवा, रोम व लन्दन की विदेश यात्राएं की।

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ के संस्थापक अध्यक्ष काका सा. श्री देवकुमारसिंह कासलीवाल से उनके आत्मीय संबंध थे फलतः ज्ञानपीठ की गतिविधियों में भी उनका मार्गदर्शन एवं सहयोग रहता था।

आपके निधन से बौद्धिक जगत को अपूरणीय क्षति हुई। हम उनके योगदान की सराहना व आत्मा की शांति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते है। कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ परिवार की विनम्र श्रद्धांजलि।

My Comments on Arhat Vacana 23 (4) Oct-Dec-2011 issue are followings

(1) The article in Hindi, "Shrutavatar ka yathrth" by Bhagchandra Jain is most relevant. At page 76 in para 1 it has been mentioned that there has been lot of additions and omissions in the available original scriptures, distorting their very essence and substance. This needs serious churning by scholars to restore the pristine originality of authentic canonical scriptures. Ostensibly we are not sure whether the postulates we are following are correct within the ambit of basic fundamental fabric of Jainism as preached by enlightened ones, Arhats and Tirthankaras. It is a fact that many postulates, practices and rituals being endorsed by present Acharyas are more Vedic than Jain, having been incorporated by Acharyas coming from Vedic and Vaishnavite backgrounds. I have recorded abstracts of preachings of eminent present Acharyas endorsing and preaching the Vedic concept of one almighty God, the doer and granter of boons which is against the very fundamentals of Jainism. There is now more emphasis on rituals than on moral conduct. Even pernicious highly violent Vedic practice of havans is now an essential part of almost every important event, Vidhans etc. It needs immediate action as suggested in this article.

(2) The article, "Jain Dualism-2: Fields and Interactions" by Narayan Lal Kachhara is full of contradictions within its own contents and is not at all compatible with fundamentals of Jainism. Of course everyone is free to have his own belief system and expression as such but while interpreting religious concept one should be honest to interpret as it is and should not distort it by superimposing his personal belief system. A few of stark contradictions and distortions are:-

(i) There is no mention of Dualism in Jainism in any authentic scripture and it is rather an anathema. Ascribing any sort of Dualism in Jainism is outlandish. Of course there is pluralism in one of the fundamental principles "Syadvad (Anekant)" in order to understand things in totality in all their probabilistic modes and manifestations because reals are very diverse and each real is equally diverse in its myriad relations. There is in fact singularism in Jainism in as much as it prescribes unified singular path of right belief, right thought and right conduct all the three combined and simultaneous as specifically asserted in stanza first of Tatvarth Sutra where Acharya Umaswami has deliberately used singular "Marg:" in place of grammatically correct plural "Marga:" to emphasise singularity and not plurality of path for salvation, the ultimate.

(ii) Author has himself mentioned at page 52 that Tejas and Mano varganas are different and two distinct varganas whereas at page 57 he has clubbed Mano vargana as part of Tejas vargana. Here there is mention of Prana body also as part of Tejas body. In Jainism there is no such thing as Prana body and there is clear cut mention of ten Pranas which are five sense organs, three mind, speech and physical body energies, breathing and life span and all these belong to different varganas. In his own referred book, "Jain Doctrine of Karma" he has given pictorial depiction of various bodies enveloping the soul and no such Prana body is shown there.

(iii) Author has put up a strange hypothesis at page 55 that a soul pradesha or 'n' identical pradesha matches with location of every cell and emit Adhyavasayas locally for functioning of each cell. It postulates that different pradesha of soul function differently and dividedly for different purposes as different cells performs different functions. According to Jainism all pradeshas of the soul function together simultaneously in all its modes. In Jainism soul and matter are independent of each other and soul does not interfere in functioning of any other object least directing it.

(iv) At page 58 it is mentioned that every soul and object emits its aura in Kirlian photography which manifest its properties. The fact is that aura in Kirlian photograph is certainly not that of the object itself but an image created by the effect of high voltage electric field on photographic plate depending on moisture levels and not on modes or quality of the object as no such image is created if photography is done in vacuum.

(v) There is mention of cosmic consciousness which exists (predates also, page 61) in all organisms. It is another term for Vedic concept of one all mighty creator, doer and destroyer god. This concept is contrary to very fundamentals of Jainism which has vehemently rejected it. In Jainism each individual soul is separate entity independent of even any other soul least of so called cosmic consciousness or god. Under faith healing (pages 62, 63) it is mentioned that sender soul transmits thoughts and the target soul/s receives them if tuned to frequency of transmitted waves. There is no place for such occult concepts in Jainism. Sadly the author has relied on outside sources and not on Jain scriptures, thus deliberately distorting the fundamentals of Jainism.

S.M. Jain
7-B, Talbandi, Kota

ऐतिहासिक महत्व की अद्‌भुत, आश्चर्यजनक और अमूल्य पांडुलिपियों एवं ग्रंथों, पुस्तकों को देखकर मैं अभिभूत हूँ, भाग्यशाली हूँ, जो आज कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुस्तकालय के दर्शन हुए।
17/12/2011

डॉ. अशोक बरुआ
सहा. प्राध्यापक-रसायन शास्त्र विभाग
शास. होलकर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर

भारत के पुराने वैभव सम्पन्न कालीन ज्ञान भंडार की अनेक मूल्यवान पांडुलिपियों का संग्रह करने एवं संरक्षण का काम इस पुस्तकालय ने अपने हाथ में लिया है। यह अति प्रशंसनीय है। भारत को इसी शती में सारे विश्व का मार्ग दर्शन करना है। इस काम में पुराने ज्ञान का भंडार का योगदान अद्वितीय होगा। इसमें यह संग्रह अत्यन्त महत्व का योगदान करेगा।
24/12/2011

डॉ. रामस्नेही गुप्त
पूर्व प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष - गणित विभाग
6, झिंदलगंज, फिरोजाबाद (उ.प्र.)

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ इन्दौर द्वारा प्रकाशित साहित्य

क्र.	पुस्तक का नाम	लेखक	I.S.B.N.	मूल्य
01	जैन धर्म का सरल परिचय	पं. बलभद्र जैन	81-86933-00-x	अनुपलब्ध
02.	बालबोध जैनधर्म, पहला भाग संशोधित	पं. दयाचन्द गोयलीय	81-86933-01-8	1.50
03.	बालबोध जैनधर्म, दूसरा भाग	पं. दयाचन्द गोयलीय	81-86933-02-6	1.50
04.	बालबोध जैनधर्म, तीसरा भाग	पं. दयाचन्द गोयलीय	81-86933-03-4	3.00
05.	बालबोध जैनधर्म, चौथा भाग	पं. दयाचन्द गोयलीय	81-86933-04-2	4.00
06.	नैतिक शिक्षा, प्रथम भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-05-0	4.00
07.	नैतिक शिक्षा, दूसरा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-06-9	4.00
08.	नैतिक शिक्षा, तीसरा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-07-7	7.00
09.	नैतिक शिक्षा, चौथा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-08-5	6.00
10.	नैतिक शिक्षा, पांचवाँ भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-09-3	6.00
11.	नैतिक शिक्षा, छठा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-10-7	6.00
12.	नैतिक शिक्षा, सातवां भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81-86933-11-5	6.00
13.	The Jain Sanctuaries of the Fortress of Gwalior	Dr. T.V.G. Shastri	81-86933-12-3	अनुपलब्ध
14.	जैन धर्म - विश्व धर्म	पं. नाथूराम डोंगरीय जैन	81-86933-13-1	12.00
15.	मूलसंघ और उसका प्राचीन साहित्य	पं. नाथूराम शास्त्री	81-86933-14-x	70.00
16.	Jain Dharma-Vishwa Dharma	Pt. Nathuram Dongariya Jain	81-86933-15-8	20.00
17.	अमर ग्रंथालय इन्दौर में संगृहीत पांडुलिपियों की सूची	डॉ. अनुपम जैन एवं डॉ. महेन्द्र कुमार जैन	81-86933-16-6	अनुपलब्ध
18.	आचार्य कुन्दकुन्द श्रुत भंडार खजुराहो में संगृहीत पांडुलिपियों की सूची	डॉ. अनुपम जैन एवं डॉ. महेन्द्र कुमार जैन	81-86933-17-4	अनुपलब्ध
19.	म.प्र. का जैन शिल्प	श्री नरेशकुमार पाठक	81-86933-18-2	300.00
20.	भट्टारक यशकीर्ति दि. जैन सरस्वती भंडार, ऋषभदेव (केशरिया जी) में संगृहीत पांडुलिपियों की सूची	डॉ. अनुपम जैन एवं डॉ. महेन्द्र कुमार जैन	81-86933-19-0	अनुपलब्ध

21.	जैनाचार विज्ञान	आचार्य मुनि सुनीलसागर	81-86933-20-4	अनुपलब्ध
22.	समीचीन सार्वधर्म सोपान	पं. नाथूराम डोंगरीय जैन	81-86933-21-2	20.00
23.	An Introduction to Jainism and its Culture	Pt. Balbhadra Jain	81-86933-22-0	100.00
24.	Ahiṁsā : The Ultimate Winner	Dr. N.P. Jain	81-86933-23-9	अनुपलब्ध
25.	जीवन क्या है ?	डॉ. अनिल कुमार जैन	81-86933-24-7	50.00
26.	विदेशी संग्रहालयों में भारत की जैन मूर्तियाँ	श्री नरेश कुमार पाठक	81-86933-25-5	50.00
27.	Mathematical Contents of Digambara Jaina Texts of Karṇānuyoga Group, Vol.-1& Vol. - 2	Prof. L.C. Jain	81-86933-26-3 81-86933-27-1	3000.00 Per Set
28.	जैन संस्कृत साहित्य में श्री कृष्ण चरित एक अध्ययन	डॉ. संस्कृति राँवका	81-86933-28-x	अनुपलब्ध
29.	अध्यात्म से समृद्धि, स्वास्थ्य एवं शान्ति	प्रो. पारसमल अग्रवाल	81-86933-29-8	100.00
30.	तत्वदेशना	आचार्य विशुद्धसागर	81-86933-30-1	अनुपलब्ध
31.	व्यावहारिक गीता	प्रो. प्रभु नारायण मिश्र	81-86933-31-x	अनुपलब्ध
32.	निजानन्द शतकम्	आचार्य योगीन्द्रसागर 'सागर'	81-86933-32-8	10.00
33.	कलियुग का क्रन्दन	आचार्य योगीन्द्रसागर 'सागर'	81-86933-33-6	10.00
34.	अनुपम शतकम्	आचार्य योगीन्द्रसागर 'सागर'	81-86933-34-4	10.00
35.	संबोधन शतकम्	आचार्य योगीन्द्रसागर 'सागर'	81-86933-35-2	10.00
36.	स्वर्ण शतकम्	आचार्य योगीन्द्रसागर 'सागर'	81-86933-36-0	10.00
37.	मुक्तिकांता शतकम्	आचार्य योगीन्द्रसागर 'सागर'	81-86933-37-9	10.00
38.	धर्म शतकम्	आचार्य योगीन्द्रसागर 'सागर'	81-86933-38-7	10.00
39.	स्वरूप-संबोधन परिशीलन विमर्श (संगोष्ठी की आख्या)	डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन	81-86933-39-5	स्वाध्याय
40.	समाधितंत्र अनुशीलन	आचार्य विशुद्धसागर	81-86933-40-9	अनुपलब्ध
41.	इंदौर ग्रंथावली भाग - 1	डॉ. अनुपम जैन एवं ब्र. अनिल जैन शास्त्री	प्रकाशनाधीन	

नोट : पूर्व के सभी सूची पत्र रद्द किये जाते हैं। मूल्य परिवर्तनीय हैं।

प्राप्ति सम्पर्क : प्रबन्धक-कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज, इन्दौर - 452 001